नमः श्रीशान्तिनाथाय

षट्खंडागम-रहस्योद्घाटन

लेखक—

श्री विद्वद्वर पं. पन्नालालजी सोनी,

[न्यायसिद्धान्तशास्त्री]

प्रकाशक —

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री.

जैन बुक-डेपो, सोलापूर.

प्रति ५००

१९४७

मूल्य सदुपयोग।

अनुक्रमणिका.

प्रकाशकीय वक्तव्य

षट्‌खंडागम धवलसिद्धांतके ९३ वें सूत्रमें संजदासंजदके आगे और संजदपदकी आवश्यकता अनावश्यकताके संबंधमें विद्वानोंके बीच काफी विवाद बढ़ गया है। समाजमें दोनों पक्षके लेख प्रतिलेख सामने आये हैं। यह सैद्धांतिक गहन विषय है। इस विषय पर खूब ऊहापोह होनेकी आवश्यकता है। एक पक्षके विद्वान् इस प्रकरणको द्रव्यसापेक्ष और दूसरे पक्षके विद्वान् भावसापेक्ष बतलाते हैं। उत्तर पक्षके विषयको युक्त्यागमके द्वारा श्री. पूज्य विद्वद्वर पं. पन्नालालजी सोनीने इस पुस्तकमें समर्थन किया है। प्रकृत विषय पर निष्पक्ष चितन करनेवाले विद्वानोंको इस पुस्तकसे अधिक प्रकाश मिल सकता है, इसी शुद्ध हेतुसे हमने इसका प्रकाशन किया है। इति—

प्रकाशक

श्रीमत्परमपूज्य तपोनिधि श्री १०८ विश्ववन्द्य
प्रातःस्मरणीय शांतमूर्ति चारित्रचक्रवर्ती आचार्य
श्री शान्तिसागरमहाराजके करकमलोंमें
लेखककी ओरसे त्रिवार
नमोस्तुपूर्वक सादर
समर्पण.
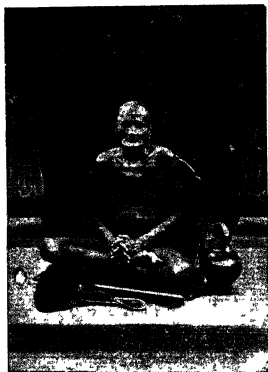
श्री १०८ चारित्रचक्रवर्ती
आचार्य शान्तिसागरजी महाराज.

नम्रनिवेदन ।

इस समय मुझे विशेष अवकाश नही है । दुरूह सिद्धान्त-शास्त्रोके सम्पादनका अत्यधिक भार मेरे ऊपर है । मैं षट्खंडागमके संजदशब्दके सम्बन्धमें फैले हुए अपवादोका स्पष्टी करण करूं ऐसा सत्-आग्रह मेरे मित्रोका रहा । मैं उनके इस प्रशस्त आग्रहको नहीं टाल सका । इसलिए समय न होते हुए भी रातके बारह बारह दो दो बजेतक जगकर मैंने इस कार्यको पूर्ण किया है । संभव है अनेक स्थलोमें भाषा सौष्ठव न रहा हो और विषयके प्रतिपादनमें सौन्दर्य न आया हो । इस उपलक्ष्यमें मैं क्षमाप्रार्थी हूं ।

मैंने अब तक अनेक सैद्धान्तिक लेख भिन्न भिन्न वर्तमान पत्रोमें लिखे हैं जिनका जैनसंसारमें उस समय अच्छा आदर हुआ है । मैं कई वर्षोंसे प्राय प्रतिवर्ष मृत्यु शय्या तक पहुंचता रहा हूं । एकवार मृत्युशय्यासे उठा ही था, उस समय द्रव्य-स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति और केवलिकवलाहार ये विषय जोरोसे उठ रहे थे । मैं इस सम्बन्धमें कुछ लिखूं ऐसा आग्रह बंबई पंचायतके खास कर्णधारोका रहा । उनका आग्रह भी मैं नही टाल सका अत. शक्ति न होते हुए भी करीब डेढसौ पेजका एक ट्रेक्ट लिख डाला । जो कि जैन सिद्धान्त दर्पणके द्वितीय भागमें प्रकाशित हुआ है । संभव है परतंत्रताके कारण उसका उतना

समादर न हुआ हो। फिर भी कतिपय विद्वानोने उसकी मुक्त-कंठसे प्रशंसा की थी। यह ट्रेक्ट कैसा उपयोगी होगा यह भविष्य का विषय है।

धवलादिसिद्धान्त ग्रन्थ करीब १५–१६ वर्षसे मेरे दृष्टिपथ में होकर गुजर रहे हैं। मैंने दोनो सिद्धान्तोंकी हस्तलिखित प्रतियां संशोधनपूर्वक श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन झालरापाटनके लिए कराई थीं जो कि इस समय इसी नामांकित सरस्वती भवन ब्यावरमें विराजमान हैं। दूसरे जयधवलकी प्रेसकापी करीब तीस–पैंतीस हजार श्लोकोके " श्री १०८ पूज्य चारित्रचक्रवर्ती शान्तिसागर दि० जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था " के लिए की है। वर्तमानमें वेदनाखंडका सम्पादन और संशोधन मेरे जरिये होरहा है। समय समय पर अब भी मैं इसका अवलोकन करता रहता हूं। अतः इन ग्रन्थोके विषयविभागादिकसे कुछ कुछ परिचित हूं। इस ट्रेक्टके लिखते समय तो मुद्रित खंडोंका बहुत कुछ उपयोग मैंने किया है।

किसी भी विषयको जाननेके लिए उस ग्रन्थकी कथनशैली विषयविभाग आदिके जाननेकी भी पूर्ण आवश्यकता है। इन बातोंको देखते हुए नं. ९३ वें में संजदशब्दका होना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। षट्खंडागमके आद्य मुद्रित सात खंडो में भावमार्गणाओंका कथन है अतः उन भाव मार्गणाओंका अस्तित्व, उनमें द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्श आदि आठ अनुयोगद्वार कहे गये

है । उत्पत्ति इन मार्गणाओंकी कैसे होती हैं, उनमें कौन कौनसे और कितने कितने गुणस्थान हैं । इन सबको देखते हुए मैं इस आशय पर पहुंचा हूं कि यह सब कथन भावोंसे सम्बन्ध रखता है, द्रव्यवेदोंका अस्तित्व, उत्पत्तिकारण, उनमें संख्या, क्षेत्र, स्पर्श, गुणस्थान आदि नहीं कहे गये हैं। विना कहे ही ये सब द्रव्यवेदमें कहे गये हैं । ऐसी धारणा बना लेना विपरीत विषयका प्रतिपादन है ।

जीवट्ठाण द्रव्यवेदोंका न प्रतिपादन करता है और न ही कौन द्रव्यवेदमें कितने कितने गुणस्थान हैं, किन किनके कौन कौनसा द्रव्यवेद है, इन बातोंका वर्णन करता है । विना इसके प्रत्येक मार्गणा और उनके भेदोंके साथ द्रव्यवेदका सम्बन्ध जोड़ लेना ठीक नहीं है । शरीर जीवोंके होते हैं, द्रव्यवेद होते हैं । इस कल्पना परसे मनुषिणीके द्रव्यवेदकी कल्पना की जा रही है । वह भी द्रव्यस्त्रीवेदकी ही, तो जिन मनुषिणियोंके चौदह गुणस्थानोंमें संख्या, क्षेत्र आदि आठ अनुयोग कहे गये हैं उनके दूसरे लोग द्रव्यस्त्रीवेद की कल्पना करते हैं । जैसी तरानवें सूत्रमें द्रव्यवेदकी कल्पना द्रव्यपक्षी कर रहे हैं वैसी ही स्त्रीमुक्तिके चाहने वाले मनुषिणी सम्बन्धी अन्य सूत्रोंमें भी द्रव्यस्त्रीवेदकी कल्पना करते हैं । संजदशब्दके इस ताम्रप्रतिमेंसे निकाल देने पर भी नं. ९३ वेंका सूत्र द्रव्यस्त्रीका प्रतिपादक तो होगा नहीं जब कि वह अन्य ऐसी ही प्रतियोंमें तदवस्थ है । अतः बेहतर है कि हमारी गल्तो परसे प्रतिपक्षी लाभ न उठा सकें । यदि कैसे भी दुराग्रह

यदि संजदशब्दको निकलवाकर द्रव्यस्त्रीकी घोषणाकी जायगी तो भी नं. ९३ वें सूत्रान्तर्गत मनुषिणी द्रव्यस्त्री सिद्ध नहीं होगी। प्रत्युत् प्रतिपक्षियोंको पूरा बल मिल जायगा। अतः बेहतर है कि संजदशब्दके निकलवानेके दुराग्रहको त्यागकर मातृप्रतियोमें जैसा पाठ है वैसा ही भावस्त्रियोंकी अपेक्षा स्वीकार कर लिया जाय।

हमने अपने इस ट्रेक्ट में वास्तविक वस्तु स्थिति क्या है, इस विषय पर अनेक आगमोंके प्रमाणोंको सामने रखते हुए प्रकाश डाला है। आशा है निम्न सुनीतिके अनुसार पाठकवर्ग सदसद्का विचार कर वास्तविक परिस्थिति पर पहुंचेंगे।

> पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
> युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ १ ॥

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें जिन महानुभावोंने सहायता दी है वे अपना नाम प्रकाशित करना नहीं चाहते हैं। इसलिए हम सिवा उनका आभार प्रकाशित करनेके उनका परिचय आदि देनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। उनके इस धार्मिक प्रेमका अभिनन्दन करत हुए उनका हम पूर्ण आभार मानते हैं।

विद्यावाचस्पति चि० पं. वर्धमान शास्त्रीने अपने कल्याण पॉवर प्रिंटिंग प्रेसमें इसे समय पर मुद्रित किया है। अतः उनका आभार मानना भी हमारा कर्तव्य है। तदनुसार हम उनके भी पूर्ण आभारी हैं।

निवेदक—

न्यायसिद्धान्तशास्त्री पन्नालाल सोनी.

नमः श्रीशान्तिजिनाय।

षट्खंडागम-रहस्योद्घाटन।

अंगंगबज्झणिम्मी अणाइमज्झंत-णिम्मलंगाए।
सुयदेवयअंबाए णमो सया चक्खुमइयाए॥ १॥
—जयधवलायां वीरसेनस्वामिनः।

सत्प्ररूपणाके सूत्र ९३ वें मेंसे करीब ४० वर्षसे इधर इधर लिखी गई प्रतियोंमें से लेखक दृष्टिदोषसे 'संजद' शब्द छूट गया है। जब कि वह 'संजद' शब्द लगभग हजार आठ सौ वर्ष पुरानी मूलताडपत्रीय मातृप्रतियोंमें, एक में ही नहीं, दो में पाया जाता है। तीसरी प्रति और है, एक तो वह अधूरी है, दूसरे जितनी है उतनी में से भी बीच बीचमें से अनेक पत्र नष्ट हो गये हैं, वह पत्र भी नष्ट होगया है जिसमें नं. ९३ वें का सूत्र मयसंजद शब्द के था। ये सब प्रतियां अनेक महर्षियोंके दृष्टिपथमें होकर गुजरी हैं, अनेकोंने इनका स्वाध्याय किया है, और पठन-पाठन किया है उनमें से उन महर्षियोंने न तो उस 'संजद' शब्दको काटा है और न ही प्रक्षिप्त हुआ कहा है। मूलमातृप्रतियोंमें 'संजद' शब्दके होते हुए भी कतिपय विद्वानोंने 'पूज्य १०८ श्री चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर

दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था ' की ओरसे की जाने-वाली नागरी लिपिकी ताम्रपत्र प्रतिमें से उसे निकलवा देने के लिए विद्वत्समाज में तहलका मचा रक्खा है।

इस विषय के मुख्य नेता पं. मक्खनलालजी और मोटे पं. रामप्रसादजी हैं। जो सब विषयोंसे व्यावृत्त होकर इसी एक मुख्य कार्यमें संलग्न हैं। ट्रेक्टोंपर ट्रेक्ट और लेखोंपर लेख इनकी ओरसे निकाले जा रहे हैं, स्वपक्षमें मिलानेके लिए भरसक प्रेरणाएं की जा रही हैं, चिट्ठी पत्री आदि की भी दौड़ धूप खूबही मचा रक्खी है। तात्पर्य, हरएक प्रकारका अथक परिश्रम किया जा रहा है, प्रार्थनाओंका तांता बांध रक्खा है, स्वपक्ष साधनेके लिए सब तरहके अवलम्बन लिये जा रहे हैं। सम्यग्दर्शन और आगम-संरक्षाका भार भी इन्हीं में आकर नियंत्रित हो गया है। अतः जन्मसे ही पूर्ण आगमश्रद्धानी विद्वानोंको सुधारक उद्घोषितकर उन्हें समाजकी दृष्टिसे गिराये जानेका असफल प्रयत्न किया जा रहा है।

संजदशब्द नं. ९३ वें सूत्रमें नहीं होना चाहिए इस सम्बन्धमें इन लोगों के कतिपय निम्न मुद्दे हैं—

१—गुणस्थान और मार्गणाएं द्रव्यशरीरकी पात्रताके अनुसार निरूपण की गई हैं।

२—जहां पर गतियोंका, कायका और योगोंका कथन पर्याप्तियों के सम्बन्ध से कहा है वहां पर द्रव्यवेद की प्रधानता है।

३–जहां पर गतियों के साथ पर्याप्तियों का सम्बन्ध नहीं है तथा योग और कायमार्गणा का भी कथन पर्याप्तियों के साथ नहीं है वहां केवल भाववेद की ही प्रधानता है।

४–आलापों में कहीं द्रव्यवेद और कहीं भाववेद की विवक्षा है।

५–गति, इन्द्रिय, काय, योग इन मार्गणाओं में जो गुणस्थानोंका समन्वय बताया गया है वह द्रव्यशरीर के आधार से ही बताया गया है।

६–द्रव्यशरीर द्रव्यवेद का अपर पर्याय है, द्रव्यशरीर और द्रव्यवेद दोनों का एक ही अर्थ है।

७–द्रव्यवेद का सूत्रों में नामोल्लेख नहीं होने पर भी उसका कथन पर्याप्ति आदि के कथनमें गर्भित हो जाता है।

८–सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार द्रव्यशरी का प्रतिपादन करता है, द्रव्य के विना भावका समावेश नहीं हो सकता।

९–विना मूलभूत द्रव्यवेद के निरूपण किये भाववेद का निरूपण नहीं हो सकता।

१०–एकेन्द्रिय जीवों के बादर सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त भेद केवल द्रव्यवेद अथवा द्रव्यशरीर की अपेक्षासे ही किये गये हैं। यहां पर भाववेद का उल्लेख नहीं है।

११–द्वीन्द्रियादि जीवोंके ये पर्याप्त अपर्याप्त सभी भेद द्रव्यशरीरके ही हैं।

१२–पृथिवीकायिकादि पांच भेद भी द्रव्यवेद के विवेचक हैं।

१३–द्रव्यमन और भावमन का विवेचन भी द्रव्यशरीरका है।

१४—योग और पर्याप्तिसम्बन्धी सब कथन द्रव्यशरीर अथवा द्रव्यवेद से ही सम्बन्ध रखता है।

१५—नं. ९३ वें में मानुषीशब्द का वाच्य अर्थ केवल द्रव्यस्त्री ही है। क्यों कि उसके साथ पर्याप्ति—अपर्याप्ति शब्द जुडे हुए हैं।

१६—आदि की चार मार्गणाओं में भाववेद की गन्ध भी नही है।

१७--आगेकी वेद कषायादि मार्गणाएं भावकी अपेक्षा से ही है उनमें द्रव्यशरीर के वर्णन का कोई कारण नहीं है। इत्यादि,

इन मुद्दों में कितने ही मुद्दे परस्पर विरोधी हैं। तथा प्रतिज्ञावाक्य और स्वकल्पित शब्दजालके सिवा मूलभूत आगमप्रमाण का इनमें सर्वथा अभाव है।

फिर भी इन सबका निरसन आगे के विवेचनमें सविस्तृत पाया जायगा। यहां इतना कह देना ही पर्याप्त है कि लेखकमहोदय ने षट्खंडागमके नामसे स्वकल्पित कल्पनाके बलपर यह सब खिचडी तैयार की है। और नं. ९३ वें सूत्रान्तर्गत मनुषिणीके द्रव्यस्त्रीवेद की सिद्धिके बहाने स्त्री—मुक्ति प्रतिपादकोंको सहायता प्रदान की है।

समाज के विद्वानों में इन लोगोंने दो दल नियत कर दिये हैं। उनका नाम रक्खा है द्रव्यपक्षी और भावपक्षी। हमें वे भावपक्षी कहकर सम्बोधित करते है। ऐसा करके वे स्वयं द्रव्यपक्ष के सिरताज बने हैं, वस्तुवृत्या हम न भावपक्षी ही हैं और न द्रव्यपक्षी ही हैं। हम तो आगमपक्षी हैं। दि. जैन ऋषियों के आगमोंमें

दोनों ही पक्षोंका कथन देखा जाता है। एकवार में एक ही विषय का कथन होता है, वह भी प्रकरणबद्ध होता है, भावप्रकरण में द्रव्यप्रकरण गौण होता है और द्रव्यप्रकरण में भावप्रकरण गौण होता है। मार्गणास्थान और गुणस्थानप्रकरण भावप्रकरण हैं। क्योंकि ये दोनों ही प्रकरण जीवके औदयिकादि पांच असाधारण भावो से निष्पन्न होते हैं। शरीर जीव के इन पाच असाधारण भावो में नहीं हैं। कितनी ही गत्यादि मार्गणाएं और मिथ्यात्वादि गुणस्थान ये ऐसे हैं जिनके होने में शरीर निमित्त कारण तक नहीं हैं। कितने ही ये ऐसे भी हैं जो शरीरों के होते हुए तो होते हैं फिर भी उनके होने में प्रधान कारण उनके प्रतिपक्षी कर्मों के उदय, क्षय, क्षयोपशम आदि हैं। शरीर विग्रहगति के जीवों को छोडकर सभी जीवों के होते हैं। उनके होने मात्रसे सभी जीवोके संयमादि मार्गणाएं नहीं होती हैं। होती हैं तो सबके संयमादि होने चाहिएं। वे तो अपने अपने प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षयोपशमादिक से ही जीवके भावरूप होती हैं। इस पर से वे हमें भावपक्षी मानते हैं तो खुशीसे मानें।

विवक्षा और अविवक्षा।

विवक्षा और अविवक्षा सत्—वस्तुमें होती है। असत्—वस्तुमें विवक्षा और अविवक्षा नहीं होती। भगवत्समन्तभद्र कहते है कि वस्तु अनन्तधर्मवाली होती है उसमें सत् की ही विवक्षा और अविवक्षाकी जाती है। असत् की विवक्षा और अविवक्षा नहीं की जाती। यथा—

विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि ।
सतो विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तदर्थिभिः ॥ ३५ ॥
—आप्त-मीमांसा ।

भगवत्-उमास्वामी भी कहते हैं कि वस्तु नित्यत्व—अनित्यत्व आदि अनेक धर्मोंसे युक्त होती है उसमें वे धर्म अर्पित और अनर्पित अर्थात् अपेक्षा और अनपेक्षासे सिद्ध हैं । यथा—

अर्पितानर्पितसिद्धेः ।

पिता—पुत्रादि लौकिक सम्बन्ध भी विवक्षा—अविवक्षासे ही सिद्ध हैं । अनन्त धर्मात्मक वस्तु या वस्तुके अनन्तधर्म एक साथ नहीं कहे जाते । उनमेंसे जिस धर्मको कवि कहता है उसमें वह धर्म ही मुख्य या प्रधान हुआ करता है । अन्य धर्म होते हुए भी उस अपेक्षासे वे गौण हैं । यह नहीं कि उनका अभाव हो ।

ग्रन्थकार जिस अपेक्षासे जो विषय कहता हो उसी की अपेक्षा वहां लगानी चाहिए । भिन्न वस्तुका सम्बन्ध जोडा जायगा तो जो बात कही गई है वह कोशों दूर चली जायेगी ।

कोई ग्रन्थकार वस्तुका कथन निश्चय की प्रधानतासे करते हैं जैसे अध्यात्म शास्त्रका कथन । कोई व्यवहारकी अपेक्षासे करते हैं जैसे सिद्धान्त शास्त्रोंका कथन । कोई भावकी मुख्यतासे करते हैं । जैसे जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्तविचय, कसायपाहुड आदि का कथन । कोई द्रव्यकी प्रधानता से कथन करते हैं । जैसे षट्प्राभृतादि में द्रव्यस्त्रीके मुक्ति निषेध द्रव्यपुरुषके मुक्ति विधान आदि । इसी तरह कहीं उत्सर्गकी प्रधानतासे और कहीं अपवादकी

प्रधानतासे, कहीं क्षेत्र, पात्र काल आदिकी प्रधानतासे कथन हुआ करता है। उस कथनका उसी प्रधानतासे समन्वय बैठता है। विपरीतकी अपेक्षा करलेनेपर उसमें विपरीतता छा जाती है। एक ग्रन्थकारने कहा है—

उत्सर्गापवादेन निश्चयव्यवहारतः।
क्षेत्रपात्राद्यपेक्षं च सूत्रं योज्यं जिनागमे ॥ १ ॥

उत्सर्ग–अपवाद, निश्चय–व्यवहार और क्षेत्र–पात्र आदि की अपेक्षा को मद्दे नजर रखकर सूत्रों की योजना करना चाहिये। यह इस श्लोक का भाव है।

निश्चय–व्यवहार नयों के भी अनेक अवान्तर भेद हैं उनमें भी प्रधानता–अप्रधानता का विचार रहता है। अन्यथा एक नय का दूसरे नयसे विरोध अनिवार्य है। विवक्षा–अविवक्षा को मद्दे नजर रखने पर ये विरोध हट जाते हैं। नहीं तो तदवस्थ रहते हैं।

अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जो केवल निश्चय की अपेक्षा से कथन करते हैं और अनेक ऐसे हैं जो व्यवहार की अपेक्षासे करते हैं। आभास वहांपर भी एक दूसरे का आजाता है फिर भी उस कथन की दृष्टि अपने मुख्य की ओर ही रहती है। जिन ग्रन्थों में दोनो नयो की अपेक्षा से कथन है वहां पर भी जिसकी अपेक्षा से कथन है वही मुख्य रहता है।

इसी तरह कितने ही ग्रन्थ भावप्रधान होते हैं और कितने ही द्रव्य प्रधान होते हैं, तथा कितने ही उभय प्रधान होते हैं। उभय प्रधान वाले ग्रन्थों में भी जिसकी प्रधानतासे विषय का

प्रतिपादन किया जारहा है उसीकी वहां प्रधानता होती है। जैसे गोम्मटसार में गुणस्थानों और मार्गणास्थानों का कथन भावापेक्ष है। इसमें द्रव्य अपेक्षित नहीं है। अमुक के अमुक शरीर होते हैं, द्रव्यवेद होते हैं, संहनन होते हैं अमुक संहनन वाला अमुक पृथिवीतक, अमुक स्वर्गतक जाता है। अमुक संहनन वाला ही मुक्ति जाता है। इत्यादि कथनों में द्रव्यप्रधान है। भाव गौण है। भावमें भावप्रधान द्रव्यगौण, द्रव्यमें द्रव्यप्रधान भावगौण होते हैं। कार्य संपादन दोनों से होता है। परन्तु कथनमें प्रधानता-अप्रधानता अवश्य रहती है। अतः विचार करने की आवश्यकता रहती है कि कौन कथन किस अपेक्षासे है।

सिद्धान्त शास्त्रोंमें गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंका कथन भावप्रधानता को लिए हुए है। क्यों कि इनकी उत्पत्ति जीवके असाधारण आत्मभूत पंचभावोंसे होती है। द्रव्यशरीर या द्रव्यवेदकी इन गुणस्थानों और मार्गणास्थानों में प्रधानता अविवक्षित है क्यों कि वे पांच असाधारण भाव द्रव्यशरीरों और द्रव्यवेदोंमें नहीं पाये जाते हैं। जो वस्तु मूल पांच भावों और उत्तर त्रेपन भावोंसे उत्पन्न होती है या परिणत होती है वहां ही की गई है। उसीमें अस्तित्व, संख्या, क्षेत्र, स्पर्श आदि कहे गये हैं।

इस भाव कथनमें द्रव्यका आभास भी आता है, इसका कारण यह है कि उस भाववान् वस्तु के साथ शरीरादि जुड़े हुए हैं। इस लिए वे शरीरादि विग्रह गतिको छोड़कर बाकी समयों में

प्रतिक्षण जीवके साथ लगे ही रहते हैं। इस लिए कथन तो होता है भावका परन्तु वे भाव किसी अपेक्षा अमूर्तिमान् होने के कारण दिखते नही हैं। दिखते हैं द्रव्यशरीर और द्रव्यवेद, इसलिए दृष्टि भावको छोड द्रव्यकी ओर घूम जाती है। तब वे समझने लगते हैं कि यह कथन द्रव्यमें किया गया।

कही द्रव्य और भाव समान मिल जाते हैं। जैसे स्त्रीवेद के उदयवाले जीवके मिथ्यात्वका अन्तर कुछ कम पचपन पल्य पाया जाता है। वह इस तरह कि एक पुरुषवेदी या नपुंसकवेदी अट्ठाईस मोहकर्मकी सत्तावाला जीव पचपनपल्यप्रमाण आयुस्थितिवाली देवियोंमें जाकर उत्पन्न हुआ। पहले अन्तर्मुहूर्त में उसने छहो पर्याप्तियां पूर्ण की, द्वितीय अन्तर्मुहूर्तमें विश्राम लिया, तृतीय अन्तर्मुहूर्तमें विशुद्ध हुआ और चौथे अन्तर्मुहूर्त में वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। यही से उसने मिथ्यात्वका अन्तर प्रारंभ किया। वेदकसम्यक्त्वके रहते हुए ही वह अन्तमें परभवकी आयुका बन्ध कर मिथ्यात्वको प्राप्त होगया। इस प्रकार मिथ्यात्वका अन्तर लब्ध होता है। सम्यक्त्वमे उसने आयु बाधी थी इसलिए पाचवे अन्तर्मुहूर्तमें सम्यक्त्वसे ही निकला, मरा और मनुष्य हुआ। इस तरह पाच अन्तर्मुहूर्त कम पचपनपल्यप्रमाण स्त्रीवेदके उदयवाले जीवके मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका उत्कृष्ट अन्तर पाया जाता है। (देखो खंड ५ पे. ९५)

इस कथनमें मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर देवियोंमें ही प्रारंभ

किया गया और उन्हींमें समास किया गया। देवियोंके द्रव्यवेद भी स्त्रीवेद होता है और भाववेद भी स्त्रीवेद होता है। दोनो वेद समान हैं। फिर भी मिथ्यात्व के अन्तरका द्रव्यवेदसे सम्बन्ध नहीं है किन्तु भाववेदसे ही है। क्योंकि 'वेदाणुवादेण इत्थिवेदएसु मिच्छादिट्ठीणमंतरं' इत्यादि सूत्रमें इत्थिवेदएसु पद है जो भावस्त्रीवेदका वाचक है। वेदमार्गणा भाववेद मार्गणा ही है ऐसा द्रव्यपक्षी भी स्वीकार करते हैं।

जिसतरह वेदमार्गणा द्रव्यवेदके होते हुए भी भावमार्गणा ही है उसतरह गत्यादि चारमार्गणाएं भी द्रव्यशरीर व द्रव्यवेदके होते हुए भी भावमार्गणाएं ही हैं। जिसतरह चारित्रमोह के अवान्तर भेद स्त्रीवेदादिकके उदयसे जायमान भावस्त्रीवेदादि भाव, शरीर व द्रव्यवेद में नहीं सभवते हैं उसी तरह जीवविपाकी गति कर्म के उदयसे जायमान गतिभाव, इन्द्रियजातिनामकर्म के उदयसे जायमान एकेन्द्रियत्वादि जातिभाव पृथिवीत्वादि नामकर्मके उदयमे जायमान पृथिवीत्वादि जातिभाव और योगोके क्षयोपशम- से जायमान क्षयोपशम भाव शरीरो व द्रव्यवेदो में नहीं संभवते हैं।

भावानुगममें कहा है कि भाव चार प्रकारका होता है नामभाव, स्थापनाभाव, द्रव्यभाव और भावभाव। इसीप्रकरण में शंकाकार पूछता है कि इन चार भावो में से यहां कौनसा भाव अधिकृत है? उत्तर देते हैं नोआगमभावभाव अधिकृत है। फिर पूछता है यह कैसे जाना? उत्तर देते हैं नोआगमभावभावको छोड़-कर नामादि शेष भाव चौदह जीवसमासो के अनात्मभूत भाव हैं

इसलिए उन अनात्मभूत भावोंसे यहां कोई प्रयोजन नहीं है। यथा—

णामट्ठवणादव्वभावो त्ति चउव्विहो भावो।—————— एदेसु चदुसु भावेसु केण भावेण अहियारो? णोआगमभावभावेण। तं कधं णव्वदे? णामादिसेसभावेहि चोद्दसजीवसमासाणं जणप्प मूदेहि पओजणाभावा। ख. ५ पे. १८५।

औपशमिकादि पांच भाव जीवके असाधारण भाव हैं। इस विषयमें कोई शंका ही नहीं है। गति, इन्द्रियजाति, पृथिवी त्वादि काय जाति ये तीनों भाव औदयिक भाव हैं और योग क्षायोप शमिक भाव हैं, इन चारों भावोंसे गति जाति, काय और योग ये चार मार्गणाएं होती हैं। इस लिए वेदादि मार्गणाओंकी तरह ये चारों मार्गणाएं भी भावमार्गणाएं हैं। इनसे भी न शरीर पर्यायें होती हैं और न औदारिकादि शरीरों व द्रव्यवेदोंकी रचना होती है। किन्तु इन गत्यादिजीवभावोंके उदयसे जीवके नार कादिपर्यायें, एकेन्द्रियादिपर्यायें, पृथिवीत्वादिपर्यायें और आत्म प्रदेशोंका हलन-चलन रूप योग पर्याय होती [illegible]। [illegible] विपाकी नामकर्मों के उदयसे यदि औदारिकादिशरीरोंकी रचना होने लग जायगी तो फिर क्या औदारिकादिशरीर नाम कर्म, अंगोपांग, बन्धन, संघात संस्थान संहनन आदि [illegible] कर्म खाक छानेंगे। इनका कार्य जब कि [illegible] [illegible] विपाकी कर्म ही करेंगे।

अन्तिम निष्कर्ष यह है कि शरीरादिक भी सत्पदार्थ हैं,

फिरभी गत्यादिभावमार्गणाओं में उनसे कोई प्रयोजन नहीं हैं। क्योंकि गत्यादिकजीवपर्यायों के होने में शरीरादि कारणीभूत नहीं हैं। अतएव शरीरादि संसारी जीवों के होते हैं तो भी वे मार्गणा और गुणस्थान प्रकरणमें अविवक्षित हैं। गत्यादि-भावोंसे यहां प्रयोजन है। क्यों कि जीवोंकी गत्यादि परिणतिमें वे कारणीभूत हैं। अतएव गत्यादि जीवभाव ही गुणस्थान और मार्गणा प्रकरणमें विवक्षित हैं।

सत्प्ररूपणाका क्रमवर्णन।

पहले सूत्रमें पंच परम गुरुओंको नमस्कार किया गया है। दूसरेमें चौदह गुणस्थानोंके अन्वेषणार्थ उनमें चौदह मार्गणास्थान जानने योग्य है यह कहा गया है। तीसरे सूत्रमें वे चौदह मार्गणास्थान कौनसे हैं यह पूछा गया है। चौथे में उन मार्गणा-स्थानोंके गति इन्द्रिय इत्यादि चौदह नाम कहे गये हैं। पांचवें सूत्रमें इन्हीं चौदह जीवसमासों के प्ररूपणार्थ आठ अनुयोगद्वार जानने योग्य हैं यह कहा गया है। छट्टे में आठ अनुयोगद्वारोंके नाम पूछे गये हैं। सातवेंमे सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम इत्यादि नाम गिनाये गये हैं। आठवें में सत्प्ररूपणाके प्ररूपणार्थ ओघ और आदेश ये दो अधिकार कहे गये हैं। ९ से २३ तक ओघ कथन है जिनमें चौदह गुणस्थानोंके मिथ्यादृष्टि आदि नामोंका उल्लेख है।

चौवीसवें सूत्रसे आदेश अर्थात् मार्गणाओंका कथन शुरू होता है। सबसे प्रथम गतिमार्गणा है। इस सूत्रमें गतिके अनुवादसे नरकगति है, तिर्यगति है, मनुष्यगति है, देवगति है और सिद्धगति है। इस प्रकार पांच गतियोंका अस्तित्वमात्र कहा गया है। २५–२६–२७–२८ इन चार सूत्रोंमें चार गतियोंके नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवोंमें क्रमशः ४–५–१४–४ गुणस्थान नामों सहित कहे गये हैं।

इन २४ से २८ तक के पांच सूत्रोंमें औदायिकादि भावगतियोंका अस्तित्व और उन भावगतिवाले जीवोंमें गुणस्थानोंका अस्तित्व कहा गया है। इसके अलावा इस सूत्रों द्वारा न द्रव्यवेद कहा गया है, न ही भाववेद कहा गया और न ही शरीर कहे गये हैं।

इस सम्बन्धमें समन्वयके लेखक पं. मक्खनलालजी भाष्य रचना करते हैं कि ' गति मार्गणामें चारों गतियोंके जीवोंका वर्णन है। उसमें नारकी तिर्यंच मनुष्य और देव इन चारों शरीर पर्यायों का समावेश है। – पेज १८ पंक्ति १०।

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार शरीर पर्यायें हैं ऐसा किसी शास्त्रमें देखा नहीं गया है। इस विषयमें लेखक-महोदयको शास्त्राधार सामने रखना चाहिए था, शरीरपर्यायें पांच हैं औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण। जो इन सूत्रोंद्वारा कहीं नहीं गई हैं।

शरीर पर्यायोंके समावेश को कोई रोकता नहीं है। जब कि

गतियोंके वर्णनमें त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, पर्याप्तिसंग्रहणी आदि सभी लोकानुयोग समाविष्ट हो जाते हैं। परन्तु फिर भी शरीर या शरीरपर्यायें इन सूत्रों द्वारा कहीं नहीं गई हैं। कथन गतिकी अपेक्षासे किया गया है। शरीरोंकी अपेक्षासे नहीं किया गया है। क्यों कि शरीरोंकी अपेक्षा न जीव नारकी होते हैं, न तिर्यंच होते हैं, न मनुष्य होते हैं और न देव ही होते हैं। इतना ही नहीं, न एकेन्द्रियादि होते हैं और न ही पृथिवीकायादि होते हैं। शरीरकी अपेक्षा ये भेद बनेंगे भी कैसे?

वस्तुका लक्षण असाधारण होता है। जैसे गायका असाधारण लक्षण सास्नादिमत्व है। उसमें यह कहना कि इसमें सींग और पूंछका भी समावेश है। है तो रहे, सींग पूंछ गायका लक्षण नहीं है किन्तु सास्नादिमत्त्व है। इसीसे वह पहचानी जाती है। इसीप्रकार नरकगतिका उदय, तिर्यंचगतिका उदय, मनुष्यगतिका उदय और देवगतिका उदय इन चारों प्रकारके जीवोंका क्रमशः आत्मभूत असाधारण लक्षण है। शरीरोंका उदय या सद्भाव है तो रहे। शरीरोंके उदयसे या शरीरोंके सद्भावसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये भेद नहीं होते हैं। शरीरोंके उदयसे तो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर होते हैं। २४ वें सूत्रमें गतियोंका अस्तित्व कहा गया है। शरीरोंका अस्तित्व नहीं कहा गया है। क्षुद्राबंधमें भी नरकादिगतियोंके उदयसे नारकी आदि होना कहा गया है। वहां भी नरकादिगतियोंके उदयसे शरीरोंका होना नहीं कहा गया है। नरकादि

गतियोंके उदयसे शरीर होते हैं तो शरीर नामकर्मोंके कहनेकी जरूरत नही है। शरीर नामकर्मोंके उदयसे नरकादि गतियां होती हैं तो नरकादि गतियोके कहनेकी जरूरत नहीं है। इसलिए जो कथन जिस कर्मके उदय आदिको लेकर किया गया है उसीके उदय आदिसे वह कार्य होता है। उस कार्यके होनेमें उसीके उदयादिककी अपेक्षा है। ऐसा समझना चाहिए। अनन्तानुबन्ध्यादि सात कर्मोंके उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे सम्यक्त्व होते हैं। शरीरोका समावेश तो यहा भी है। परन्तु सम्यक्त्व इन शरीरोके उपशमादिक से होते नही हैं। विग्रहगतिके जीव शरीरोंके उदयके विना ही इन नरकादि गतियोके उदय से नारकी आदि होते हैं। इसलिए जिस अपेक्षासे जो कथन है उसी अपेक्षासे समन्वय बैठाना चाहिए। भिन्न अपेक्षाओको जोड़कर कथनमे विपरीतता पैदा करना और लोगो में भ्रम फैलाना अक्षम्य भूल है।

एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रितकके जीव शुद्ध तिर्यंच ही होते हैं। संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत तक के जीव मिश्रतिर्यंच होते है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर संयतासंयत गुणस्थान तकके मनुष्य मिश्र मनुष्य होते हैं। इससे ऊपरके गुणस्थानो में शुद्ध मनुष्य ही होते है। यह २९-३०-३१-३२ इन चार सूत्रोका आशय है।

शुद्ध तिर्यंच, मिश्रतिर्यंच, मिश्रमनुष्य और शुद्धमनुष्य ये भेद भी जीवो के ही है। अतः इन सूत्रो द्वारा भी उक्त प्रकार

के उक्त भावजीव ही कहे गये हैं। शरीर इन जीवोंके भी होते हैं परन्तु वे शरीर इन सूत्रों द्वारा कहे नहीं गये हैं।

इन्द्रियों की अपेक्षा एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय ऐसे छह प्रकारके जीव होते हैं। एकेन्द्रियजीव बादर और सूक्ष्म ऐसे दो प्रकारके होते हैं, बादर दोतरहके होते हैं पर्याप्त और अपर्याप्त, सूक्ष्म दोतरहके होते हैं पर्याप्त और अपर्याप्त। दोइन्द्रियजीव दोप्रकारके होते हैं पर्याप्त और अपर्याप्त, तेइन्द्रियजीव दोप्रकारके होते हैं पर्याप्त और अपर्याप्त, चौइन्द्रिय जीव दोप्रकारके होते हैं पर्याप्त और अपर्याप्त, पंचेन्द्रिय दो प्रकारके होते हैं संज्ञी और असंज्ञी, संज्ञी दोप्रकारके होते हैं पर्याप्त और अपर्याप्त तथा असंज्ञी जीव दोप्रकारके होते हैं पर्याप्त और अपर्याप्त। एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय इन जीवों के एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। असंज्ञी पंचेन्द्रियों को आदि लेकर अयोगिकेवली तकके जीव पंचेन्द्रियजीव होते हैं। इससे ऊपर अनिन्द्रिय सिद्ध परमात्मा होते हैं।

सूत्र नं. ३३ से ३८ तक के छह सूत्रों में इन्द्रियों की अपेक्षा जीवोंके उक्त भेद-प्रभेद कहे गये हैं। सूत्र ३३ में 'इंदियाणुवादेण' यह पद दिया गया है जिसका अर्थ होता है इन्द्रियोंकी अपेक्षा जीवोंका कथन किया जाता है या लक्षण कहा जाता है। इससे मालूम होता है स्वयं जीव ही एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदि होते हैं।

समन्वयके लेखक कहते हैं कि 'इन्द्रियमार्गणामें एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि इन्द्रिय सम्बन्धी शरीर रचना का कथन है' पेज १९ पंक्ति १।

इन्द्रियमार्गणाका कथन ३३ से ३८ तक छह सूत्रोंमें किया गया है जिनका हूबहू आशय ऊपर दिया गया है। जिन्हें सन्देह हो वे मूलसूत्रोको देख सकते है और उन्हे देखकर सन्देहकी निवृत्ति कर सकते हैं कि उन सूत्रोंमें एकेन्द्रिय आदि भावजीव व उनके भेद-प्रभेद कहे गये हैं या उनके इन्द्रियसम्बन्धी शरीररचनाका कथन किया गया है। उक्त सूत्रोंमें शरीरोका तो नाम-निशान भी नही दिख रहा है। आचार्यप्रवरने सूत्र न. २ में चौदह गुणस्थानोके अन्वेषण रूप प्रयोजनके होनेपर उनमें चौदह ही जीवस्थानो के कहनेकी प्रतिज्ञा की है उसके विरुद्ध यह शरीर रचना कहासे आगई। इससे मालूम होता है पं. मक्खनलालजीने अपेक्षाको जलाञ्जलि दे डाली है और प्रकृतको छोड़कर अप्रकृतकी ओर प्रधावन कर डाला है।

सब कथन प्रायः आपेक्षिक होते है। जिस अपेक्षासे जो कथन किया जाता है वही अपेक्षा वहा ली जाती है। यदि भिन्न अपेक्षा का आश्रय लिया जायगा तो वह कथन कभी भी सत्य नही ठहरेगा। जैसे मिथ्यात्वगुणस्थानमें 'मिच्छे खलु ओदइओ' इस सूत्र द्वारा एक मिथ्यात्वनामका औदयिकभाव कहा गया है वह इसतरह असत्य ठहराया जासकता है कि मिथ्यात्वगुणस्थानमें जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये पारिणामिक भाव भी तो

होते हैं और मतिअज्ञानादि क्षायोपशमिक भाव भी तो होते हैं फिर एक औदयिकभाव ही कैसे हो सकता है। दर असलमें और भाव भी होते तो हैं ही। फिर भी वे नहीं कहे गये हैं, इसका कारण यह है कि पारिणामिक और क्षायोपशमिक भावोंसे मिथ्यात्व-गुणस्थान नही होता है किन्तु मिथ्यात्वगुणस्थान मिथ्यात्वनामके औदायिकभावसे ही होता है। इसलिए दर्शनमोहनीयके उदय-की अपेक्षामे एक मिथ्यात्वनामका औदयिकभाव ही मिथ्यात्व-गुणस्थानमे प्रधानतासे कहा गया है। ठीक इसीतरह इन्द्रिय-प्रकरणके इन सूत्रोंमे इन्द्रियजातिकी अपेक्षा एकेन्द्रियजाति-नामकर्मके उदयवाले एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियजातिनामकर्मके उदयवाले द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रियजातिनामकर्म के उदयवाले त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय नामकर्मके उदयवाले चतुरिन्द्रय, पंचेन्द्रियजातिनामकर्मके उदयवाले पंचेन्द्रिय और इन पाचो जाति-नामकर्मों के उदयसे विरहित अनिन्द्रिय जीव कहे गये है। यह ही इन जीवो का असाधारण लक्षण है जो परस्परमें एक दूसरे में नही पाया जाता है और अपने अपने सब भेद-प्रभेदो में व्याप्त भी है। शरीर एकेन्द्रियादि जीवो का असाधारण स्वरूप नही है। क्योकि शरीर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियादि सभी जीवो में पाया जाता है। और न ही सब एकेन्द्रियादि जीवो में पाया जाना है। विग्रह-गतिके एकेन्द्रियादि जीवो के शरीर नही है तो भी वे एकेन्द्रि-यादि जातिनामकर्मोंके उदयके वशवर्ती होनेसे एकेन्द्रिय आदि होते हैं। गोदको छोड़ पेटकी आश करना उचित नहीं है।

अपेक्षा भी कोई वस्तु होती है उसे छोड़ अनपेक्ष की ओर उछ-
लना कथमपि श्रेयस्कर नही है। प्रधानता यहांपर एकेन्द्रियादि
जीवोंके प्रतिपादन की है न कि शरीरोंकी रचना की। शरीरोंकी
रचना शरीरनामकर्मके उदयसे होती है। जो यहां कही नही
गई है।

कायकी अपेक्षासे पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजः कायिक,
वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और अकायिक एवं
सात प्रकारके जीव होते हैं। पृथिवीकायिक जीव बादर और
सूक्ष्म, बादरजीव पर्याप्त और अपर्याप्त तथा सूक्ष्मजीव पर्याप्त और
अपर्याप्त होते है, इसीप्रकार अप्कायिक, तेज कायिक और
वायुकायिक जीव चार चार प्रकारके होते हैं। वनस्पतिकायिक
जीव दो प्रकारके होते हैं प्रत्येकशरीर और साधारण, प्रत्येकशरीर
जीव पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो तरहके होते है. साधारणशरीर
जीव बादर–सूक्ष्म और हरएक पर्याप्त और अपर्याप्त होते है।
त्रसकायिकजीव पर्याप्त और अपर्याप्त इसप्रकार दो तरहके होते
हैं। पृथिवीकायिकादि पांचकायिक जीवोंके एक मिथ्यात्व गुणस्थान
ही होता है। दोइन्द्रियोंको आदि लेकर अयोगिकेवलि पर्यन्तके
जीव त्रसकायिक होते हैं। बादरएकेन्द्रियोंको आदि लेकर
अयोगिकेवलीतकके जीव बादरकायिक होते हैं। इनसे ऊपरके
जीव अकायिक होते हैं।

सूत्र नं. ३९ से ४६ तकके सात सूत्रोंमें कायकी अपेक्षा
जीवोंके भेद–प्रभेद कहे गये है। यहांपर भी कायकी अपेक्षा जीव

ही मुख्यतया कहे गये हैं। समन्वयके कर्ता पं. मक्खनलालजी इस कथनको इसप्रकार विपरीत बना रहे हैं कि "कायमार्गणामें औदारिक, वैक्रियिक आदि शरीरोका कथन है"—पेज १० पंक्ति ३

कायमार्गणामें जो कथन है वह ऊपर दिया गया है। सन्देह हो तो सत्प्ररूपणाके उक्त संख्यावाले सूत्रोको देखकर उसकी निवृत्ति की जा सकती है और उन सूत्रोंमें औदारिकादिशरीरोका कथन दूर रहे, उनके नाम भी हैं क्या? यह भी जाना जा सकता है। लेखकमहोदयने यहांपर भी प्रधान विवक्षा को जलाञ्जलि दे डाली है और अप्रधान विवक्षाको अपने लेखका कलेवर बनाया है। प्रधान विवक्षा कायके द्वारा जीवोके प्रतिपादनकी है न कि शरीरोके प्रतिपादनकी। लेखकमहोदयके हृदयमें विपरीतवासना घर कर गई है। अत वे ग्रन्थोक्त कथनको विपरीतरूपसे ही समझा रहे हैं। कथन है कायकी अपेक्षा जीवोके कहने का और समझा रहे हैं औदारिकादि शरीरोका। इन जीवोके शरीर होने नही हैं ऐसा निषेध तो कोई करते ही नही है। निषेध इस बातका करते हैं कि इन सूत्रोके द्वारा पृथिवीकायिकादि नामकर्मके वशवर्ती जीव ही कहे गये हैं न कि औदारिकादि शरीर। पृथिवी-कायिकादि जीव तो पृथिवीकायिकादि नामकर्मके उदयवशवर्ती होनेसे विग्रहगतिमें भी होते हैं किन्तु औदारिकादिशरीर विग्रह गतिमें होते नही हैं। इससे ऐसा मालूम होता है कि काय-मार्गणामें औदारिकादिशरीर नही कहे गये हैं किन्तु पृथिवीकायि-कादि जीव कहे गये हैं। औदारिक–वैक्रियिकशरीरोका उदय

एक ही भवमें कुछ समयों तक नहीं भी होता है परन्तु पृथिवीकायिकादि नामकर्मोका उदय भवके प्रथम समयसे लेकर मरणतक बराबर रहता है । यही उनका असाधारण लक्षण भी है । शरीर असा धारण लक्षण नहीं है । पृथिवीकायिकादि शब्दोंसे पृथिवीकायादि औदारिकशरीर यदि लिये जायंगे तो सूत्रोंका अर्थ ऐसा करना- पड़ेगा कि ' पृथिवीकायादि औदारिकशरीरों में मिथ्यात्वकर्मोदयजन्य एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है इत्यादि, ऐसी हालतमें मिथ्यात्वा- दिगुणस्थान जीवों में न पाये जाकर औदारिकादि जड़ शरीरों में पाये जायेंगे उसहालतमें मृतशरीरों में भी गुणस्थानोंका पाया जाना अनिवार्य हो जायगा । इस दोषका वारण जभी हो सकता है यदि कायमार्गणाका अर्थ औदारिकादिशरीर न मानकर पृथिवीकायिकादि जीव ही माने जावें । शरीरोंके उदयसे नारकी आदि चार भेद, इन्द्रियजाति आदि पांच भेद और पृथिवी- कायादि छह भेद होंगे भी कैसे ? शरीरों में नरकादिगतियोंका उदय नहीं है । जीवों में नरकादिगतियोंका उदय है फिर उनके उदयसे शरीर कहांसे टपक पड़ेंगे । शरीरोंकी उत्पत्तिके कारण यहां मार्गणाओं मे कहे भी तो नहीं गये हैं। विना कारणके मार्गणारूप कार्य उनमें कहांसे आजायगा ?

४७ वें सूत्रमें कहा गया है कि योगोंके अनुवादसे मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी जीव होते हैं । ४८ वें में कहा गया है कि अयोगी अर्थात् उक्त तीन योगोंसे रहित जीव भी होते हैं । ४९ वें में मनोयोगके सत्यमनोयोग आदि चारभेद कहे गये

है । ५० वें में और ५१ वें में इन चारो मनोयोगोमें गुणस्थानोकी सत्ता कही गई है । ५२ वेंमें वचनयोगके सत्यवचनयोगआदि चार भेद कहे गये हैं । ५३–५४–५५ इन तीनो सूत्रोमें सत्य-वचनादियोगोमें गुणस्थान कहे गये हैं । ५६ वें में काययोगोंके नाम गिनाये गये हैं । ५७–५८–५९–६० इन चार सूत्रोमें काययोगके स्वामी कहे गये हैं । ६१–६२–६३–६४ इन चार सूत्रों में इन्ही काययोगो में गुणस्थानोका सत्त्व कहा गया है । ६५–६६–६७ इन तीनमें मूल तीनयोगोंके स्वामी कहे गये है ।

इस प्रकार २१ सूत्रोंमें योगोके भेद–प्रभेद, उनमें गुणस्थान और उनके स्वामी जीवोका कथन किया गया है । योगमार्गणाके प्रारंभमें धवलाकार लिखते हैं कि ' योगद्वारेण जीवद्रव्यप्रति-पादनार्थमुत्तरसुत्तमाह ' अर्थात् योगोके द्वारा जीवद्रव्यका प्रति-पादन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है । इससे मालूम होता है कि योगोके द्वारा भी जीवोका ही प्रतिपादन किया गया है तथा इन योगोके स्वामी भी जीव ही कहे गये हैं । इससे भी ज्ञात होता है कि योगमार्गणामें भी योगवाले भावात्मक जीव ही कहे गये हैं ।

काययोग सात हैं औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाय-योग, वैक्रियिककाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग और कार्माणकाययोग । शरीर पाच होते हैं औदारिकशरीर, वैक्रयिकशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर और कार्मणशरीर । यहा कुछ योगोके और कुछ शरीरोके नाम एक ही

हैं। फिर भी योगमार्गणाका कथन शरीरोंमें नहीं किया गया है।

योगोंकी संख्या सात है और शरीरोंकी संख्या पांच है। तीन मिश्रशरीरोंकी संख्या मिला देनेपर शरीरोंकी संख्या आठ हो जाती है। एवं योग और शरीरोंमें संख्याभेद है। शरीरोंमें एक तैजसशरीर है, योगोंमें तैजसनामका कोई योग नहीं है। यह भी दोनोंमें विभिन्नताका कारण है। वीर्यलब्धिके क्षयोपशमसे उत्पन्न औदारिकादिकाययोग क्षयोपशमात्मक होते हैं, औदारिकादि-नामकर्मोंके उदयसे उत्पन्न औदारिकादिशरीर क्षयोपशमात्मक नहीं होते हैं। औदारिकादियोग जीवोंके भाव हैं, औदारिकादिशरीर जीवोंके भाव नहीं हैं। औदारिककाययोग तेरहवे गुणस्थान तक पाया जाता है किन्तु औदारिकशरीर चौदहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। यदि दोनोंको एक माना जायगा तो या तो चौदहवें गुणस्थानमें भी योग कहना पडेगा या योगकी तरह तेरहवेंके अन्तमें ही शरीरका भी अन्त कहना पडेगा। औदारिक-काययोगोंकी संख्या अनंत है जब कि औदारिकशरीरोंकी संख्या असंख्यात ही है। काल अन्तर आदि आठ भी योगोंमें और शरीरोंमें जुदा जुदा हैं। इत्यादि कारणोंसे जाना जाता है कि शरीर और काययोग सर्वथा एक नहीं है। जिन जीवोंके योग होते है उनके शरीर भी होते हैं फिर भी योग जीवोंके आसाधारण परिणाम हैं शरीरोंके नहीं है। क्योंकि योग जीवोंको छोड़कर शरीरोंमें नहीं पाये जाते हैं।

आगे यह सप्रमाण स्पष्ट किया जायगा कि चौदहों मार्गणाएं

भी भावमार्गणाएं ही हैं। अतः गतिमार्गणा, इन्द्रियमार्गणा, कायमार्गणा और योगमार्गणा ये चारों मार्गणाएं भी भावमार्गणाएं हैं। जिसतरह 'वेदमार्गणामें नोकषायके उदयस्वरूप वेदोंमें गुणस्थान बताये गये हैं और कषायमार्गणामें कषायोदयविशिष्ट जीवोंमें गुणस्थान बताये गये हैं, (पेज. १९) उसीतरह गति-नामक औदयिकभावविशिष्ट जीवोंमें, एकेन्द्रियादिजातिसंज्ञक औदयिकभावविशिष्ट जीवोंमें, एकेन्द्रियादिजातिनामकर्मके अवा-न्तरभेद पृथिवीकायिकादिनामक औदयिकभावविशिष्ट जीवोंमें और योगोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न क्षायोशमिकभावविशिष्ट जीवोंमें गुणस्थान बताये गये हैं। और जिसतरह 'वेदकषायज्ञानादिमार्ग-णाओंमें द्रव्यशरीरके वर्णनका कोई कारण नही है, (पेज १८) उसीतरह गति, इन्द्रिय, काय और योगमार्गणा में भी द्रव्यश-रीरके वर्णनका कोई कारण नही है। क्योंकि आदिकी चार मार्गणाएं भी वेद–कषाय–ज्ञानादि मार्गणाओंकी भांति औदयिक और क्षायो-पशमिक हैं। अतः 'योगमार्गणामें औदारिकादिकाययोग आदिके विवेचन द्वारा शरीरकी पूर्णता और अपूर्णताके साथ योगोंका कथन है' यह सब केवल वागाडम्बर है। क्योंकि शरीरकी पूर्णता अपूर्णताके साथ योगोंका कथन ग्रंथमें है ही नही। योगमार्गणामें ही आगे चलकर पर्याप्तियों और अपर्याप्तियोंका कथन अवश्य है परन्तु वहां उस कथनका शरीरोंके साथ कोई सम्बन्ध नही है। वह पर्याप्तता और अपर्याप्तता नामका धर्म जीवोंका है। न कि शरी-रोंका। जीवोंकी पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें कौन कौनसे योग

होते हैं और कौन कौनसे योग नहीं होते हैं । यह• कथन योग-मार्गणामें है । पर्याप्तियों और अपर्याप्तियोका उदय विग्रहगतिके प्रथम समयसे ही प्रारंभ हो जाता है परन्तु शरीरोका उदय विग्रह-गतिके बाद होता है । इससे ज्ञात होता है कि पर्याप्तियां और अपर्याप्तिया जीवोकी ही परिण तिविशेष हैं न कि शरीरोकी ।

छ पज्जत्तीओ छ अपज्जत्तीओ । ७० । सण्णिमिच्छाइ-ट्ठिप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठित्ति । ७१ ।

पंच पज्जत्तीओ पंच अपज्जत्तीओ । ७२ । वीइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति । ७३ ।

चत्तारि पज्जत्तीओ चत्तारि अपज्जत्तीओ । ७४ । एइंदियाणं । ७५ । —सत्प्ररूपणा पे. ३१२-१३-१४ ।

इन सूत्रो द्वारा पर्याप्तिया और अपर्याप्तिया जीवोका ही खास धर्म कही गई हैं। यदि पर्याप्तियां और अपर्याप्तियां शरीरोकी पूर्णता और अपूर्णताका नाम है तो सूत्रोंका अर्थ यह होगा कि छह पर्याप्तिया और छह अपर्याप्तियां संज्ञी मिथ्यादृष्टिरूप शरीरोसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टिरूप शरीरो तक होती हैं इत्यादि, संज्ञी मिथ्यादृष्टिरूप शरीर, असयतसम्यग्दृष्टिरूप शरीर तो न आगममें देखे ही गये हैं और न सुने ही गये हैं । आगममें **कश्चिज्जीव-विशेषे षडेव पर्याप्तयो भवन्ति, कचित्पंचैव भवन्तीति केषुचित्प्राणिषु चतस्र एव पर्याप्तयोऽपर्याप्तयो वा भवन्ति, चतुर्णामपि पर्याप्तीनामधिपतिजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमह,** इत्यादि अनेको वाक्य देखे जाते हैं जिनमें पर्याप्तियां और

अपर्याप्तियां नामके धर्म जीवोंमें कहे गये हैं। शरीर जीवोंके होते हैं, एतावता जीवोके गुण या धर्म शरीरोंके नहीं हो जाते। हो जाते हैं तो केवलज्ञानादि गुण भी शरीरोंके कहे जा सकेंगे। शरीरोंका और जीवोंका परस्पर एक क्षेत्रावगाह होते हुए भी शरीरोंके धर्म शरीरोंके होंगे न कि जीवोके और जीवोंके धर्म जीवोके होंगे न कि शरीरोंके। अतः गति, इन्द्रिय, काय, योग और पर्याप्तियां-अपर्याप्तियां ये धर्म जीव और शरीरोका एक क्षेत्रावगाह होते हुए भी जीवोंके हैं। जिसतरहकी वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन आदि जीवोके धर्म हैं। 'आदिकी चार मार्गणाओंमें द्रव्यशरीरकी मुख्यतासे वर्णन है' यह कथन बिल्कुल पोच कथन है। द्रव्यशरीरोंकी मुख्यता तो जब हो सकती थी यदि गत्यादिधर्म शरीरोंमें कहे जाते। गत्यादिधर्म शरीरोंमें न कह कर जीवोंमें ही कहे गये हैं, अतः जीवोंकी ही इन चार मार्गणाओंमें मुख्यता है। शरीरों में जीवविपाकी कर्मोदयजन्य ये धर्म संभव भी नहीं हैं।

> गदियादिजीवभेदं देहादिपोग्गलाण भेदंच।
> गदियंतरपरिणमणं करेदि णामं अणेयविहं ॥ १ ॥
>
> —गो० कर्मकांड

इस गाथासूत्रमें नामकर्मका कार्य कहा गया है। गति जाति आदि जीवके भेदोंको, शरीरादिपुद्गलके भेदोंको, एक गतिसे दूसरी गति रूप परिणमनको नामकर्म करता है जो कि नामकर्म अनेक प्रकारका है।

इस गाथासूत्रमें जीवविपाकी नामकर्मके द्वारा संपादित गति, जाति, आदि जीवोंके भेद ही कहे गये हैं। न कि गति, जात्यादि, शरीरोंके भेद। जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी कितने ही कर्म एक साथ उदयापन्न होते हुए भी अपने अपने भेदोंमें ही अपना अपना कार्य करते हैं। यदि वे कर्म ऐसा न कर एक दूसरेके विषयको करने लगेंगे तो उनकी कोई कीमत ही न रहेगी। अस्तु, गत्यादि भेद जीवके हैं, पुद्गल-शरीरके नहीं हैं यह बात सिद्धान्त सिद्ध है। इसलिए गतिजात्यादिकके अस्तित्व-कथनपरसे शरीरोंकी रचना कहना धोखाधड़ी है। क्योंकि गति, जाति आदि जीवविपाकी नामकर्मोंके उदयसे जीव ही नारकादि गतियों रूप, एकेन्द्रियादि जातियों आदि रूप परिणमते हैं अतः मार्गणाओंके स्वरूपकथनमें शरीरोंकी मुख्यता दूर रहे उनकी गौणता भी नहीं है।

आगे सूत्र नं. ७९ से १०० तक चारो गतिके जीवोंमें गुणस्थानोंको लेकर पर्याप्तता-अपर्याप्तता कही गई है। यह कथन भी शरीरनिरपेक्ष जीवोंमें ही किया गया है। शरीरोंका इसमें कोई सम्बन्ध ही नहीं है। द्रव्यवेदका सम्बन्ध तो और भी दूरोत्सारित है।

इस क्रमवर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सं. सूत्रोंमें जीवोंका उनके धर्मोंको लेकर मुख्यतया वर्णन है या शरीरोंको लेकर शरीरोंका मुख्यतया कथन है। अतः 'यह निरूपण शरीर सम्बन्धसे है, द्रव्यशरीरके विना भाववेदका निरूपण अशक्य

है, द्रव्यके विना भावका समावेश हो नहीं सकता ' इत्यादि गीतोंका गाना ग्रन्थोक्त अपेक्षाओंको आलेमें रख देनेके सिवा कुछ नहीं है। विग्रहगतिमें द्रव्यशरीर नहीं है फिर भी विग्रहगतिमें भाववेद, कषायें, ज्ञान आदि भावोंका सद्भाव है फिर द्रव्यके विना भावका निरूपण कैसे अशक्य है। सिद्ध परमात्मामें द्रव्य-शरीर नहीं है फिर भी उनमें क्षायिकभावोंका और जीवत्वनामके परिणामिक भावका, अनिन्द्रियत्व, अकायत्व अयोगत्व आदि धर्मोंका समावेश ग्रन्थोंमें कहा है। जीवोंके विना इन भावोंक कथन अशक्य है कहना तो यह चाहिए परन्तु पं. मक्खनला-लजी इसके विपरीत यह कह रहे हैं कि शरीरके विना भावोंका कथन अशक्य है। कितने ही भावोंके होनेमें शरीर सहायक हो सकता है इसका अर्थ यह नहीं है कि वे भाव शरीरके हो जाते हैं और जीव यों ही रह जाता है। पं. मक्खनलालजी यह भी कहते हैं कि वेदादि मार्गणाएं विना द्रव्यशरीरके ही हैं उनमें शरीरके कहनेका कोई कारण नहीं हैं और यहां कह रहे हैं शरीर संबंधके विना भाववेदका निरूपण अशक्य है। यह कितना बढ़िया वाक्चातुर्य है।

गति, इन्द्रिय, काय, योग और पर्याप्तियों–अपर्याप्तियोंकी तरह द्रव्यशरीर और द्रव्यवेदोंकी सीधी विधि बताना चाहिये। इनसे द्रव्यशरीरोंकी सिद्धि होती है यह तो तब कहना चाहिए यदि सामनेवाला गत्यादि चतुर्दशमार्गणावाले जीवोंके शरीरोंके होनेका निषेध कर रहा हो। सामनेवाला जीवों के शरीरोंका

निषेध नहीं करता है। वह कहता यह है कि यहां जीवोंमें गत्यादिभावोंका प्रतिपादन किया गया है। शरीरोंका नहीं किया गया है।

समन्वयके लेखक पं. मक्खनलालजीको आदिकी चार मार्गणाओंमें सर्वत्र द्रव्यशरीर और द्रव्यवेदकी गन्ध आती है। अतः प्रत्येक प्रकरणमें और प्रत्येक सूत्रमें चटसे उनके सामने द्रव्यवेद या उसका आश्रयभूत शरीर जरूरत न होते हुए भी आ खड़ा होता है। जिस सूत्रद्वारा आठअनुयोगोंके नाममात्र गिनाये गये हैं और जिस सूत्रद्वारा सत्प्ररूपणाके ओघ और आदेश ये दो भेद कहे गये हैं उनमें भी उन्हें द्रव्यवेद अथवा द्रव्यशरीरकी गन्ध आगई है। यह देखिये—

संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि। ७।

इस सूत्रमें आगत नामोंको हिन्दीमें लिखते हुए वे कहते हैं कि "धवलाकारने वस्तुके अस्तित्वका प्रतिपादन करने वाली प्ररूपणा को सत्प्ररूपणा बताया है। जैसा कि अत्थित्तं पुण संतं अत्थित्तस्य य तदेव परिमाणं। इस गाथा द्वारा स्पष्ट किया है। जैसा कि सत्सत्त्वमित्यर्थः कथमन्तर्भावितभावत्वात्' इस विवेचन द्वारा धवला कारने स्पष्ट किया है। इसका अर्थ यह है कि सत्प्ररूपणामें सत् का अर्थ वस्तु की सत्ता है। क्योंकि वस्तुकी सत्तामें भाव अन्तर्भूत रहता है। इससे स्पष्ट है कि सत्प्ररूपणा अनुयोग-

द्वार जीवोंके द्रव्यशरीरका प्रतिपादन करता है द्रव्यके विना भावका समावेश हो नहीं सकता इत्यादि "।

इस द्रव्यशरीर और द्रव्यवेदकी सिद्धिके सम्बन्धमें पं. मक्खनलालजीकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। सत्प्ररूपणामें सत्का अर्थ वस्तुकी सत्ता है। वह वस्तु सिवा द्रव्यशरीरके दुनियांमें और कोई है ही नहीं, न जीव वस्तु है और न ही धर्मादि द्रव्य वस्तु हैं और न विना द्रव्यशरीरके इनमें कोई भाव ही रह सकते हैं। सिद्धपरमात्माके द्रव्यशरीर नहीं है उनमें भी द्रव्यके विना कोई भी भाव नहीं होंगे। धर्मादि द्रव्योंमें तो सत्ता होनी ही नहीं चाहिए। क्योंकि उनका वेचारोंका द्रव्यशरीरसे कभी पाला ही नहीं पड़ा है। वेदादिमार्गणाओंमें विना द्रव्यशरीरके भी भाव रह जाते हैं। ऐसा पं. मक्खनलालजी स्वयं स्वीकार करते हैं वहां द्रव्यशरीरके विना भाव कैसे रह जाते हैं। वहां विना द्रव्यशरीरके भाव रह जाते हैं तो आदिकी चार मार्गणामें द्रव्यशरीरके विना भाव क्यों नहीं रहते। क्या यह निर्हेतुक, निष्प्रमाण और आगमविरहित जबर्दस्ती नहीं है? जहां द्रव्यशरीरका नाम तक नहीं वहां भी द्रव्यशरीर और वस्तु भी द्रव्यशरीर ही। धन्य है इस द्रव्यशरीरकी सिद्धिको।

यहीं पर आप लिखते हैं 'धवल सिद्धान्तमें पहले द्रव्यवेदविशिष्ट शरीरोंका निरूपण किया है और उन्ही द्रव्यशरीर विशिष्ट जीवोंकी गणना बताई है,। यह तो बड़ी खुशीकी बात है पर यह तो बताइये कि इस गणनाप्रकरणमें मनुषिणीके द्रव्यवेद

कौनसा है ? यदि उसके द्रव्यवेद द्रव्यस्त्रीवेद है तो फिर यह मनुषिणी द्रव्यस्त्री होगी। ऐसी हालतमें चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनी होनेके कारण मुक्ति क्यों नहीं जायगी। यदि इस गणना प्रकरणकी मनुषिणीके द्रव्यवेद द्रव्यपुरुष है तो फिर नं. ९३ वें सूत्रोक्त मनुषिणीको ऐसी ही मनुषिणी मानकर ' संजद ' पद मानने में कौनसा दोष है। गुणस्थान तो चौदह मान लेना और संजद पद न मानना यह बडा अच्छा कौशल्य है।

' विना मूलभूत द्रव्यवेदके निरूपण किये भाववेदका निरूपण नही हो सकता— पे. २१ पं. ६ ' यह प्रतिज्ञा भी पंडित मक्खनलालजीकी स्ववचन बाधित है। क्योंकि वे स्वयं लिखते हैं कि ' इन्ही भिन्न द्रव्यशरीके साथ गुणस्थान बताये हैं परन्तु इससे (योग मार्गणासे) आगे वेदमार्गणामें नोकषायके उदयस्वरूप वेदोंमें गुणस्थान बताये गये हैं, वहांपर द्रव्यशरीके वर्णनका कोई कारण नही है ' । (पे. १९ पं. ७) । पेज १६ पंक्ति १५ में वे ही पडितजी लिखते हैं कि ' द्रव्यशरीर ही द्रव्यवेदका अपरपर्याय है। द्रव्यशरीर और द्रव्यवेदका एकही अर्थ है '। एक जगह पंडितजी कहते हैं द्रव्यवेदके विना भाववेदका निरूपण अशक्य है। दूसरी जगह कहते हैं द्रव्यवेदके विना ही वेदमार्गणामें केवल भाववेदका वर्णन है। इस बातको वे ' वहां द्रव्यशरीर के वर्णनका कोई कारण नहीं है ' इस वाक्यके द्वारा और भी पुष्ट करते हैं। पंडित मक्खनलालजीकी दृष्टिमें द्रव्यशरीर ही द्रव्यवेद और द्रव्यवेद ही द्रव्यशरीर है। तदनुसार वहां पर द्रव्य-

शरीरके वर्णनका कोई कारण नहीं है । अर्थात् वेदमार्गणामें भाव-वेदका वर्णन विना द्रव्यवेदके वर्णनके ही है । इसका अर्थ स्पष्ट है कि वेदमार्गणासे लेकर आगेकी मार्गणावाले जीवोंके कोईसा भी द्रव्यवेद नहीं है । द्रव्यवेद नहीं है तो द्रव्यशरीर भी नहीं है क्योंकि उनके मतसे दोनों अपरपर्याय हैं । नौवें गुणस्थान तक भाववेद कहा गया है । उस भाववेदवाले जीवके न द्रव्यवेद है और न शरीर है । इसके विना ही वे जीव मुक्ति पहुंच जाते हैं। वेदमार्गणामें स्त्रीवेद नौवें गुणस्थान तक कहा गया है अतः पंडितजी को भय लगा कि यहां द्रव्यवेद मान लिया जायगा तो नौवें तक ही नहीं आगे भी द्रव्यस्त्रीवेद मानना पड़ेगा । इस डरसे वे वेदमार्गणाके कथनको द्रव्यवेदके वर्णनके विना ही स्वीकार कर लेते हैं । वेदमार्गणासे पहलेकी गत्यादिमार्गणाओंका वर्णन द्रव्यवेदके विना नहीं मानते हैं । उन्हें द्रव्यवेद की सिद्धिके आवेशमें यह खयाल ही नहीं रहा है कि जिन गत्यादिमार्गणावाले जीवोंके द्रव्यवेद सिद्ध किया जा रहा है उन्हींके तो आगेकी वेदादि मार्गणाएं होती हैं । नहीं तो हम पूछते हैं जिन गत्यादिमार्गणावाले जीवों के द्रव्यवेद सिद्ध किया गया है उनके भाववेद, कषाय, ज्ञान आदि हैं या नहीं । हैं तो उनके भी द्रव्यवेद सिद्ध होता है, नहीं हैं तो भाव वेद, कषाय, ज्ञान आदि मार्गणाएं किनके होती हैं । क्या वेदादिमार्गणावाले और कोई जीव हैं और गत्यादि-मार्गणावाले और कोई जीव हैं । यदि ये जीव भिन्न भिन्न नहीं हैं तो फिर इनके भी वही द्रव्यवेद साबित होता है जो गत्यादि-

मार्गणाओंमें निश्चत किया गया है। गत्यादिमार्गणाओंमें पंडित मक्खनलालजीने मनुषिणीके द्रव्यवेद द्रव्यस्त्रीवेद निश्चत किया है। वही निश्चित किया हुआ द्रव्यस्त्रीवेद स्त्रीवेदादिमार्गणा वाले जीवोके होगा। ऐसी हालतमें या तो पंडित मक्खनलालजी आदिकी चार मार्गणावाले जीवोके द्रव्यवेद सिद्ध करना भूल जावें या आगेकी मार्गणावाले जीवोंके भी उसी द्रव्यवेदको स्वीकार करें। इसके विना अन्य गति नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें नं. ९३ वेंका पंडित मक्खनलालजीका द्रव्यस्त्रीवेद नौवेंको भी पार करके सीधा चौदहवें गुणस्थान तक पहुंचता है। जो प्रो. हीरालालजीके साथ पंडित मक्खनलालजीका गठबन्धन सिद्ध करता है। इससे बचनेका यही एक तरीका है कि जीवट्ठाणदि ३ खंडोंमें द्रव्यका वर्णन ही नहीं है। भावका ही वर्णन है यह स्वीकार कर लिया जाय।

यह हमने पंडित मक्खनलालजीके मन्तव्यमें दोषापादन किया है। हमारे मन्तव्यके अनुसार द्रव्यवेदके विना भी भाववेदका वर्णन बन जाता है और भाववेदके विना भी द्रव्यवेदका वर्णन बन जाता है। वर्णन एकवार एक का ही बनेगा, दोनोका एक साथ बनेगा ही नही। जिन आचार्योंने दोनोका वर्णन किया है उनने भी क्रमसे ही वर्णन किया है। वर्णनको जाने दीजिये द्रव्यवेदके विना भी भाववेद होता है। ऐसे जीव भी संसारमें एक नही अनन्तानन्त हैं जिनके द्रव्यवेद नही होता है केवल भाववेद ही होता है। ऐसी हालतमें द्रव्यशरीर ही द्रव्यवेदका अपर पर्याय है, दोनोका

एक ही अर्थ है इस मन्तव्यकी भी अन्त्येष्टि हो जाती है। देखिये—

एकेन्द्रियजीव बादर-सूक्ष्म-पर्याप्त-अपर्याप्त होते हैं जो संख्यामें अनन्तानन्त हैं। पृथिवीकायादि पंचभेद, उक्त चार प्रकारके एकेन्द्रिय हैं। इनमें साधारण वनस्पति और निगोदोंको छोड़कर प्रत्येकभेदवाले जीव भी असंख्यात हैं और सब मिलकर भी असंख्यात हैं, साधारण वनस्पतिके चारों प्रकारके जीव अनन्त हैं और चारों प्रकारके निगोद जीव उनसे भी अनन्तगुणे हैं। इन सबके द्रव्यशरीर तो होता है परन्तु द्रव्यवेद इनके नहीं होता है। इसीतरह भावनपुंसकवेद इनके होता है। क्योंकि 'णवुंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति' यह सूत्र एकेन्द्रियोंमें भाववेदका विधान करता है। द्रव्यवेद योनि-मेहन-तव्यतिरिक्त अंगोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे होता है। एकेन्द्रिय जीवोंमें किसी भी प्रकारके अंगोपाङ्ग का उदय नहीं है। यथा—

तिरियअपुण्णं वेगे परघादचउक्क-पुण्ण-साहरणं।
एइंदिय-जस-थीणति-थावरजुगलं च मिलिदव्वं॥ ३०६॥
रिणमंगोवंगतसं संहदि-पंचक्खमेव—————।

—गो. कर्मकांड

अर्थात् एकेन्द्रियोंमें तिर्यंचपंचेन्द्रियअपर्याप्तके समान ही उदययोग्य प्रकृतियां हैं परंतु उनमें परघातचतुष्क, पर्याप्ति, साधारण, एकेन्द्रियजाति, यशःकीर्ति, स्त्यानगृद्धिआदितीन और स्थावर-युगल इन तेरह को मिलाना और अंगोपांग, त्रस, संहनन और पंचेन्द्रियजाति इन चारको कम करना।

तिर्यंचअपर्याप्तोंमें ७१ का उदय है उनमें १३ को मिला देने पर ८४ प्रकृतियां हो जाती हैं, इनमें से अंगोपांगादि चार कम कर देने पर एकेन्द्रियोंमें उदय योग्य प्रकृतियां ८० होती हैं। इन ८० में अंगोपाङ्ग नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु खास-कर अलग कर दिया गया है। अंगोपाङ्गके उदयके विना एकेन्द्रियों में द्रव्यवेद कहांसे कूद पड़ेगा। अतः स्पष्ट है कि एकेन्द्रियोंमें द्रव्यवेद नहीं है, भाववेद ही है। तथा द्रव्यशरीर है और द्रव्यवेद नहीं है। इससे पं. मक्खनलालजीके उक्त दोनों मन्तव्योंकी खासा अन्त्येष्टि हो जाती है। अतः पं. मक्खनलालजीका सारा समन्वय दोषपूर्ण है और आगमविरुद्ध है यह कहदेना अत्युक्ति पूर्ण नहीं है।

इस क्रमवर्णनसे स्पष्ट है कि आदिकी चार मार्गणाओंमें द्रव्यका कथन नही है। केवल गति जाति, काय और योग इन चार भावोंका कथन है। इन्ही भाववाले जीवोंके गुणस्थान कहे गये हैं और इन्ही चार भाववाले जीवोंके पर्याप्तियां और अपर्याप्तियां कही गई हैं। इन्ही जीवोंके ही आगेकी वेदादिभावमार्गणाएं कही गई हैं एक ही जीवमें एकही समयमें ये चौदह मार्गणाएं सामान्यतः होती हैं। ये सब मार्गणाएं भाव मार्गणाएं हैं।

———

वेदमार्गणामें भाववेदका ही प्ररूपण है।

गति, इन्द्रिय, काय और योग इन चार मार्गणाओंके अनन्तर पूर्वानुपूर्वीसे पांचवीं वेदमार्गणा कही गई है। सो सूत्रोंके पश्चात् १०१ सूत्रसे लेकर ११० सूत्र तक वेदोंका कथन है। जो भाववेदकी अपेक्षासे है। द्रव्यवेदकी अपेक्षासे नहीं है। कारण द्रव्यवेद यहां अधिकृत नहीं है और द्रव्यवेदके साथ इस प्रकरणका मेल-जोल भी नहीं बैठता है। द्रव्यवेदी भी इस कथनको भाववेदका ही कथन मानते हैं। जिन जीवोंके भाववेद कहा गया है उनमें से कितने ही जीवोंके द्रव्यवेद होता भी है परन्तु वह इस प्रकरणमें प्रयोजनीभूत नहीं है। प्रयोजनीभूत भाववेद ही है। क्योंकि वेदोक्त कथन भाववेदमें ही किया गया है। अथवा यों कहिये वेदोक्त कथन भाववेदमें ही घटित होता है। द्रव्यवेद संसारमें है ही नहीं या गत्यादिमार्गणावाले सभी जीवोंके द्रव्यवेद है ही नहीं यह हम नहीं कहते हैं। कहते यह हैं कि उन जीवोंके द्रव्यवेदका विधान किसी सूत्रद्वारा यहां नहीं किया गया है। यही यहां द्रव्यवेदकी अप्रधानता है। भाववेद कहा गया हैं। इसीका नाम भाववेदकी प्रधानता है। ग्रन्थभरमें वेदसम्बन्धी सब कार्यावली भाववेदसे ही सम्बन्ध रखती है। यहां हम उन सूत्रोंका आशयमात्र देते हैं। सूत्रोंके देनेसे लेखके बढ़नेकी संभावना है और कोई बात नहीं है।

वेदके अनुवादसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और अपगतवेद एवं चार प्रकारके जीव होते हैं ॥ १०१ ॥ स्त्रीवेद और पुरुषवेद ये दो वेद असंज्ञिमिथ्यादृष्टिको आदि लेकर नौवें अनिवृत्ति गुणस्थान तक होते हैं ॥ १०२ ॥ नपुंसकवेद एकेन्द्रियोंको आदि लेकर नौवें अनिवृत्तिकरण तक होता है ॥ १०३ ॥ नौवेंसे ऊपरके जीव अपगत अर्थात् वेदसे रहित होते हैं ॥ १०४ ॥

चौथा सूत्र है ' तेण परमवगदवेदा चेदि ' इस सूत्रपरसे भाववेद साबित होता है । क्योंकि नौवेंसे ऊपर जीव द्रव्यवेदसे अपगतवेद नहीं होता है । कारण नौवेंसे ऊपर भी द्रव्यवेद रहता है । अतः यह अपगतवेदता भाववेदमें पाई जाती है । इसलिए इस सूत्रपरसे यह प्रकरण भाववेदका है यह निश्चित होता है। यह हम ऊपर कह चुके हैं कि वेदसम्बन्धी कार्यावली भाववेदमें पाई जाती है । उस कार्यावलीमें अपगतवेद भी एक कार्य है। यह कार्य भाववेदमें पाया जाता है, द्रव्यवेद में नहीं पाया जाता । यद्यपि नरक, तिर्यंच और देवगतिमें अपगतवेद नहीं होता है फिर भी चारित्रमोहोदयजन्य भाव ही इनमें कहा गया है । मनुष्यगतिमें अपगतवेद होता है । वहां पर भी जीव भावसे अपगतवेद होता है, द्रव्यसे नहीं होता है । धवलामें लिखा है कि " नौवें गुण-स्थानसे ऊपरके सब गुणस्थानवाले प्राणी अपगतवेद होते हैं । किन्तु ऊपर द्रव्यवेदका अभाव नहीं है, क्योंकि द्रव्यवेदसे कोई विकार नहीं होता है । यहां पर भाववेद अधिकृत है, इसलिए

भाववेदके अभावसे सवेद भागसे ऊपर जीव अपगतवेद होता है। द्रव्यवेदसे नही "। यथा—

शेषगुणस्थितिस्थिताः सर्वेऽपि प्राणिनोऽपगतवेदाः। न द्रव्यवेदस्याभावः, तेन विकाराभावात्। अधिकृतोऽत्र भाववेदस्ततस्तदभावादपगतवेदो नान्यथेति। (धवल खं १ पृ. ३२५)

धवलाका यह कथन भी भाववेदकी विधि करता है और द्रव्यवेदका निषेध करता है। तथा यह वेदमार्गणा मध्यदीपकन्यायसे अपने पूर्वकी मार्गणाओंमें और आगेकी मार्गणाओंमें भी भाववेदका प्रकाश डालती है। इतना ही नहीं ' यह प्रकरण द्रव्यवेद का नहीं है यह भी कहती है। अन्यथा नौवें अनिवृत्ति तक जो तीनों वेद कहे गये हैं द्रव्यवेद सिद्ध हो जाते हैं। अत यह कथन इसी ग्रन्थके विरुद्ध जा पड़ता है। उस विरुद्धताको भी यह अपगतवेद पद हटा देता है। कारण बताता है कि भाववेद यहां ग्रन्थभरमें कहा गया है, द्रव्यवेद नही कहा गया है। भाववेद न मानकर द्रव्यवेद माना जायगा तो नौवें अनिवृत्ति तक स्त्रीवेद और नपुंसकवेद इन दोनो पदोसे क्रमश द्रव्यस्त्रीवेद और द्रव्यनपुंसक वेदका ग्रहण होगा, ऐसी हालतमें द्रव्यस्त्रीवेद और द्रव्यनपुंसकवेद भी नौवें गुणस्थान तक होते हैं यह अर्थ हो जायगा। जो कि जैनागमके सर्वथा विपरीत जा पड़ेगा। इसी लिए हम षट्खंडागमके इस कथन को भावकी प्रधानता लिये हुए बताते हैं।

१०५ वें सूत्रमें नारकी अपने चारों गुणस्थानोंमें शुद्ध नपुंसक लिंगी होते हैं। यह कहा गया है। इस सूत्रके द्वारा जो नारकी सूत्र नं. २४ में अस्तित्व रूपसे कहे गये हैं और जिनके २५ वें सूत्र द्वारा चार गुणस्थान कहे गये हैं वे ही नारकी अपने चार गुणस्थानोंमें शुद्ध भाव नपुंसक वेदी कहे गये हैं। शुद्धका अर्थ यह है कि नारकियोंके नपुंसकवेदके सिवा और कोई वेद नही होता है।

१०६ वें सूत्रमें कहा गया है कि एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर चतुरिन्द्रिय तकके जीव शुद्ध नपुंसकलिंगी होते हैं। इनमें भी और कोई दूसरा वेद नहीं होता है। असंज्ञीपंचेन्द्रियोंको आदि लेकर संयातसयत नामके पंचम गुणस्थान तकके तिर्यंच तीनों भाववेदवाले होते हैं। ऐसा सूत्र १०७ में कहा गया है। इन दोनों सूत्रोंद्वारा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय असंज्ञि-संज्ञिपंचेन्द्रिय तिर्यंच इन सबमें चारित्रमोहोदयजन्य भाववेद कहा गया है। ये एकेन्द्रियादि भेद भी वे ही हैं जो गतिमार्गणामे तिर्यग्गतिके रूपसे और इन्द्रियमार्गणामें इन्द्रियोंके रूपसे कहे गये हैं।

सूत्र नं. १०६ की व्याख्यामे द्रव्यवेदको लेकर यह एक शका उठाई गई है कि " एकेन्द्रिय जीवोके द्रव्यवेद उपलब्ध नहीं होता है तब उस द्रव्यनपुंसकभेदका उनमें सत्त्व कैसे है ? इसका खास एक उत्तर यह दिया गया है कि उन एकेन्द्रियोंमें

द्रव्यवेद उपलब्ध नहीं होता है तो मत होओ, क्योंकि द्रव्यवे-दका यहांपर प्राधान्य नहीं है। " यथा—

एकेन्द्रियाणां न द्रव्यवेद उपलभ्यते, तदनुपलब्धौ कथं तस्य तत्र सत्त्वमिति चेत् ? माभूत्तत्र द्रव्यवेदस्तस्यात्र प्राधान्याभावात् ।

इस शका—समाधान द्वारा एकेन्द्रियोंमें द्रव्यवेदके प्राधान्यका निषेध करदिया है। यद्यपि शका—समाधान एकेन्द्रियोके विषयमें है तो भी इस प्रकरणमें द्रव्यवेदकी प्रधानताका अभाव सर्वत्र हो जाता है। क्योंकि ' अत्र ' पदके द्वारा इस प्रकरणमें द्रव्यवेदके प्राधान्यका निषेध किया गया है।

सूत्र नं. १०८ में कहा गया है कि **मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर अनिवृत्ति तकके नौगुणस्थानवाले मनुष्य तीनों वेदवाले होते हैं।** १०९ मे कहा गया है कि **अनिवृत्तिसे ऊपरके गुणस्थानवाले मनुष्य अपगतवेद होते हैं।** ये भी वे ही मनुष्य हैं जो सूत्र २३ में अस्तित्व रूपसे कहे गये हैं और सूत्र न. २७ मे जिनके १४ गुणस्थान कहे गये है। उन्हीं गुणस्थानो में से नैवें तकके नौगुणस्थामो में तीनो भाव-वेदवाले और नौवें अवेदभागसे लेकर चौदहवें तक अपगतवेदवाले कहे गये हैं।

सूत्र नं. ११० के द्वारा देव **अपने चारों गुणस्थानोंमें स्त्रीवेद और पुरुषवेदवाले होते हैं।** यह कहा गया है। ये व भी वे ही हैं जो सूत्र २३ में अस्तित्व रूपसे कहे गये हैं

और जिनके सूत्र नं. २८ में चार गुणस्थान कहे गये हैं वे ही देव भावस्त्रीवेदी और भावपुरुषवेदी कहे गये हैं।

गतिमार्गणामें नं. २३ सूत्रमें जिन गतियोंका अस्तित्व कहा है, और २५-२६-२७-२८ सूत्रोंमें जिनके गुणस्थान कहे गये हैं उन्हीं गतिवाले और गुणस्थान वाले जीवोंके सूत्र नं. १०५ से ११० तकके छह सूत्रों द्वारा भाववेदकी विधि कही गई है। तात्पर्य, चारों गतियोंके जीव इन सूत्रों द्वारा भाववेदी कहे गये हैं और धवलाकारने भी यह स्पष्ट कर दिया है कि भाववेद यहांपर अधिकृत-प्रधान है, द्रव्यवेद न अधिकृत है और न प्रधान ही है। द्रव्यवेद यहांपर प्रधान माना जायगा तो नौवें तक तीनों द्रव्यवेद और अपगतवेदसे द्रव्यवेदसे अपगत माना जायगा, जो सर्वथा दि. जैन आगमके विरुद्ध जा पड़ेगा, उद्धरण ऊपर दिये गये हैं। इस सब कथनसे गति, इन्द्रिय, काय और योग इन चारों मार्गणावाले जीवोंमें भाववेदकी विधि और द्रव्यवेदका निषेध बखूबी हो जाता है। अब देखें द्रव्यवेदियोंके नेताओंका ऊंट किस करवट बैठता है। जोकि द्रव्यवेदी नेता यह कहते नहीं हिचकिचाते हैं कि ' नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार शरीर पर्यायें सूत्र नं. २३ के द्वारा कही गई हैं और गति, इन्द्रिय, काय और योग मार्गणाओंमें भाववेदकी गन्ध भी नहीं है। ' द्रव्य-वेदी सोचें समझें विचारें कि आदिकी चारमार्गणाओंमें द्रव्यवेदकी गन्ध नहीं है या भाववेदकी गन्ध नहीं है। इस सब कथन परसे

जीवट्ठाणादिकमें भाववेदका ही साम्राज्य है। द्रव्यवेद तो न मालूम कहांकी हवा खारहा है।

खुद्दाबन्धमें कहा गया है कि वेदानुवादकी अपेक्षासे स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद कैसे होता है? चारित्रमोहनीयके उदयसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद होता। अपगतवेद कैसे होता है? उपशमलब्धिसे अपगतवेद होता है। यथा—

वेदाणुवादेण इत्थिवेदो पुरिसवेदो णवुंसयवेदो णाम कथं भवदि? चारित्तमोहणीयस्स कम्मस्स उदएण। अपगदवेदो णाम कथं भवदि? उवसमियाए लद्धीए खइयाए लद्धीए वा। सु. खंड ७

यहा पर भी भाववेद ही लिया गया है। योनि–मेहनादि द्रव्यलिंग तो कहे ही नही गये हैं। इससे भी वेदमार्गणा भावमार्गणा ही सावित होती हैं। क्योंकि चारित्रमोहके उदयसे वेदोका होना और औपशमिकलब्धिसे वेदोका अभाव होना ये दोनों बातें भाववेदमें ही घटित होती हैं।

इन सूत्रोंकी व्याख्यामें एक शंका—समाधान है वह इसप्रकार है—

इत्थिवेदद्व्वकम्मजणिदपरिणामो किमित्थिवेदो वुच्चदि, णामकम्मोदयजणिदथण – जहण–जोणिविसिट्ठसरीरं वा। ण ताव सरीरमेत्थित्थिवेदो, 'चारित्तमोहोदएण वेदाणमुप्पत्ति परूवेमो त्ति' एदेण सुत्तेण सह विरोहादो, सरीराणमवगदवेदत्ताभावादो वा। ण पढमपक्खो, एक्कम्मि

कज्जकारणविरोहादो ? एत्थ परिहारो वुच्चदे–ण विदिय-पक्खो, अणब्भुवगमादो। ण च पढमपक्खम्मि वुत्तदोसो संभवदि, परिणामादो परिणामिणो कथंचि भेदेण एयत्ताभावादो। कुदो ? चारित्तमोहणीयस्स उदओ कारणं कज्जं पुण तदुदयविसिट्ठो इत्थिवेदत्थिणदो जीवो, तेण पज्जाएण तस्सुप्पज्जमाणत्तादो ण कज्जकारणभावो एत्थ विरुज्झदे। एवं सेसवेदाणं पि वत्तव्वं। सेसा वि भावा एत्थ संभवंति तेहि भावेहि वेदाणं णिद्देसो किण्ण कदो ? ण, वेद-णिबंधणपरिणामस्स खओवसमियादिपरिणामाभावा, वेद-विसिट्ठजीवदव्वट्ठियसेसभावाणं पि तिवेयसाहरणाणं तद्धे-तुत्तविरोहादो।

इसका आशय यह है कि स्त्रीवेद नामक द्रव्यकर्मसे जनित वेदपरिणाम क्या स्त्रीवेद कहा जाता है या नामकर्मोदयसे जनित स्तन–जधन–योनिविशिष्ट शरीर स्त्रीवेद कहा जाता है। शरीर तो यहांपर स्त्रीवेद नही कहा जासकता। क्योंकि 'चारित्रमोहके उदयसे वेदोंकी उत्पत्तिका प्ररूपण करते हैं' इस सूत्रके साथ विरोध आता है। दूसरी बात यह है कि इस पक्षके स्वीकार करनेसे शरीरी जीवोंके अपगतवेदताका अभाव हो जायगा। प्रथम पक्ष भी ठीक नही है, क्योंकि स्त्रीवेद द्रव्यकर्म जनित परिणाम को स्त्रीवेद कहनेसे कार्यकारणका विरोध आता है' यह हुई शंका, इसका परिहार आचार्य करते हैं–दूसरा पक्ष यहांपर स्वीकार नही किया गया है कि नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ स्तन, जघन, योनि-

विशिष्ट शरीर स्त्रीवेद है और प्रथम पक्षमें दिया गया दोष संभवता नहीं है। क्योंकि परिणामसे परिणामीका कथंचित् भेद होनेसे दोनोंमें एकत्वका अभाव है। क्यों है, सुनिये—चारित्रमोहनीयका उदय तो कारण है और कार्य चारित्रमोहनीयके उदयसे विशिष्ट स्त्रीवेदसंज्ञक जीव है, क्योंकि उस स्त्रीपर्यायसे उसकी उत्पत्ति हुई है। इसलिए यहांपर कार्यकारणका विरोध नहीं आता है। इस कारण प्रथम पक्ष इष्ट है अर्थात् स्त्रीवेद कर्मके उदयसे जायमान परिणाम यहांपर स्त्रीवेद लिया गया है। इसी तरह शेषवेद अर्थात् पुरुषवेद और नपुंसकवेदके सम्बन्धमें भी कहना चाहिये अर्थात् ये दोनों वेद भी अपने २ द्रव्यकर्मसे जायमान परिणाम रूप ही लिये गये हैं।

यहां एक शंका और की गई है कि वेदके उदयसे जायमान भावकी तरह और भी तो भाव जीवोंमें संभवते हैं उन भावोंसे वेदोंका निर्देश क्यों न किया गया? उत्तर देते हैं—नहीं, क्योंकि वेदकारणक परिणाममें क्षयोपशमादि परिणामोंका अभाव है और वेदविशिष्ट जीवद्रव्यमें स्थित जो शेषभाव हैं वे तीनों वेदोंमें साधारण हैं इसलिए वे भाववेदके कारण नहीं हैं।

इस शंका—समाधानसे स्पष्ट है कि वेदप्रकरणमें भाववेद लिया गया है। इतना ही नहीं द्रव्यवेदका निषेध भी दोषापादनपूर्वक कर दिया गया है। तथा वेदोंका कारण चारित्रमोहनीयके अवान्तर भेद स्त्रीवेदादि कर्म ही हैं और कोई क्षयोपशमादि भाव-

वेदोंकी उत्पत्तिके कारण नहीं हैं। यह बात भी दूसरी शंकाके समाधान द्वारा स्पष्ट करदी गई है। अतः निश्चित है कि षट्खंडागमके मार्गणा प्रकरणमें भाववेद ही लिया गया है। इसकारण वेदमार्गणा भी भावमार्गणा ही है।

खुद्दाबंधमें एक जीवकी अपेक्षा चौदह मार्गणाओंमें जघन्योत्कृष्ट काल कहा गया है। उसमें से वेदोंका जघन्योत्कृष्ट काल यहां देते है। जिससे मालूम होगा कि यह काल भाववेदोंका है, द्रव्यवेदोंका नहीं है। इससे भी भाववेदकी ही सिद्धि होती है।

वेदके अनुवादसे स्त्रीवेद कितने कालतक होता है? जघन्यसे एक समय तक और उत्कर्षसे पल्योपमशतपृथक्त्व पर्यन्त होता है। यथा—

वेदाणुवादेण इत्थिवेदा केवचिरं कालादो होंति। जहण्णेण एगसमओ उक्कस्सेण पलिदोवमसदपुधत्तं।

पुरुषवेद कितने कालतक होते हैं? जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कर्षसे सागरोपमशतपृथक्त्व तक होते हैं। यथा—

पुरिसवेदा केवचिरं कालादो होंति? जहण्णेण अंतोमुहुत्तं उक्कस्सेण सागरोवमसदपुधत्तं।

नपुंसकवेदसे युक्त जीव कितने कालतक होते हैं? जघन्यसे एक समयतक और उत्कर्षसे अनन्तकाल अर्थात् असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन पर्यन्त होते हैं। यथा—

णउंसयवेदा केवचिरं कालादो होंति? जहण्णेण एगसमओ उक्कस्सेण अणंतकालमसंखेज्जपोग्गलपरियट्टं।

अपगतवेद कितने कालतक होते हैं ? उपशमश्रेणिकी अपेक्षा जघन्यसे एक समय तक और उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्ततक अपगतवेद होते हैं। क्षपकश्रेणिकी अपेक्षा जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्षसे कुछ कम पूर्वकोटी तक अपगतवेद होते हैं। यथा—

अवगदवेदा केवचिरं कालादो होंति ? उवसमं पडुच्च जहण्णेण एयसमओ उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं। खवगं पडुच्च जहण्णेण अंतोमुहुत्तं उक्कस्सेण पुव्वकोडी देसूणं।

यहा स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और अपगतवेदका जघन्यकाल एक समय कहा गया है। कोई एक जीव स्त्रीवेदके उदयसे और कोई एक दूसरा जीव नपुंसकवेदके उदयसे उपशमश्रेणि चढ़ा अवेद भागमें वे दोनो ही जीव अपने अपने वेदके उदयसे रहित होगये। उतर कर वे पुन अपने अपने उन्ही वेदोसे युक्त हुए, एक समय तक अपने अपने वेदसे युक्त रहकर मरे, दूसरे समयमें पुरुषवेदी देव होगये। इस तरह स्त्रीवेद और नपुंसकवेदका जघन्य काल उपलब्ध होता है। यह एक समयका काल द्रव्यवेदमें स्वप्नमें भी उपलब्ध नही होता है।

अपगतवेदका जघन्य काल उपशमश्रेणिमें एक समय और उत्कर्ष काल अन्तर्मुहूर्तका है, वह इस तरह घटित होता है कि कोई जीव अपने अपने वेदसे एक समय तक अपगतवेद होकर पुन. द्वितीय समयमें उसी वेदसे युक्त हो जाते हैं और कोई जीव अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्ततक अपगतवेद होकर पश्चात् अपने अपने उन्हीं वेदोसे युक्त हो जाते हैं। एव उपशमश्रेणिकी अपेक्षा

अपगतवेदका जघन्योत्कृष्ट काल उपलब्ध होता है। क्षपकश्रेणिमें अपगतवेदका काल अन्तर्मुहूर्त है। कोई जीव अपनी आयुके अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में क्षपकश्रेणि चढ़कर नौवेंके अवेदभागमें अपगतवेद होकर उसी एक अन्तर्मुहूर्तमें सब गुणस्थानोको पार कर मुक्त होगया। दूसरा जीव अन्तमुहूर्त अधिक आठवर्ष के अनन्तर संयमधारणकर क्षपकश्रेणि चढा वहा अपगतवेद होकर शीघ्र ही तेरहवें में जा पहुचा, वहा इतने काल कम पूर्वकोटी तक जीवित रहकर परिनिर्वृत हो गया एवं कुछ, कम पूर्वकोटी तक वह जीव अपगतवेद रहा। यह सब अपगतवेदता भाववेदकी होती है, द्रव्यवेदमें यह अपगतवेदता नहीं होती। वेदोका उत्कृष्ट काल भी भाववेदी में ही घटित होता है इस लिए सर्वत्र मार्गणाओ में और सभी अनुयोगद्वारो में भाववेदका ही बोलबोला है। जहां कोई कथन भाववेदकी तरह द्रव्यवेदमें भी घटित हो जाता हो तो भी दर असलमें वह भाववेदकी अपेक्षा ही कथन है ऐसा समझना चाहिए। इसका मुख्य कारण अपगतवेदता है। वह द्रव्यवेदमें नहीं होती है। खैर, कुछ भी हो ऊपरके प्रकरणसे वेदमार्गणा भाववेदमार्गणा है यह सुनिश्चित होता है।

वेदनाखंडमें तीनो वेदवाले मनुष्योके नरकायुका और देवायुका उत्कृष्ट स्थिति काल तेतीसागरका कहा गया है यह उत्कृष्ट स्थिति काल भाववेदो में पाया जाता है। द्रव्यवेदों में नहीं पाया जाता। यह भी एक कार्यावलीमें विशिष्ट कार्य है। लेख बढ़नेके भयसे उसका उद्धरण यहा नही दिया गया है। अधिक क्या कहें

आद्य पांचखंडोंके सभी अनुयोग द्वारोंका सम्बन्ध प्राधान्यसे भाव-वेदोंके साथ है क्योंकि द्रव्यवेदकी प्रधानताको लेकर कोई भी कथन घटित नहीं होता है।

सभी मार्गणाएं भावमार्गणाएं हैं।

अभी तक हमने वेदोके कथनको ही भाववेदकी अपेक्षा लिए हुए कहा है। परन्तु अब यह भी कह देना चाहिये हैं कि एक वेदका ही नहीं, सभी मार्गणाओंका कथन भावकी अपेक्षा लिये हुए है। क्योंकि जीवट्ठाण, खुद्दाबंध और बंघसामित्तविचय इन तीनों खंडोंमें सर्वत्र भावमार्गणाएं ही कही गई हैं।

जीवट्ठाण आठ अनुयोगद्वारोंमें विभक्त है। पहला अनुयोग-द्वार सत्प्ररूपणा नामका है। इसमें चौदह भावमार्गणाओंके नाम प्रत्येकके भेद और उनमें यथासंभव गुणस्थान कहे गये हैं। दूसरेमें उन्हीं भावमार्गणाओके उन्ही भेदोंके उन्ही गुणस्थानोके जीवोंकी संख्या कही गई है। इसीतरह क्षेत्रानुगममें क्षेत्र, स्पर्शानुगममें स्पर्श, कालानुगममें काल, अन्तरानुगममें अन्तर, भावानुगममें भाव और अल्पबहुत्वानुगममें अल्पबहुत्व ये सब अनुयोगद्वार क्रमसे कहे गये हैं। इन अनुयोगद्वारोंमें मार्गणाएं और नहीं, उनके भेद और नही और उनमें गुणस्थान और नहीं। सभी अनुयोगद्वारोंमें वे ही मार्गणाए हैं, वे ही उनके भेद हैं

और वे ही उनके गुणस्थान हैं। उन्हीमें उक्त आठप्रकारका कथन है। किं बहुना सारा जीवस्थान ही नोआगमभावरूप है। यह हम आगे बतावेंगे। सन्देह हो तो जीवट्ठाण देख जाइये।

दूसरा खुद्दाबंध नामका खंड है, वह बारह अनुयोग द्वारोंमें विभक्त है। पहला अधिकार बन्धक जीवोंका है उसमें उन्हीं चौदह मार्गणाओंके भेदोंमें कौन बन्धक हैं और कौन अबन्धक हैं यह कथन है। इन्ही बन्धक जीवोंके प्ररूपणार्थ ग्यारह अनुयोग-द्वार और हैं। उनके नाम हैं एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्त्व, काल, अन्तर, नानाजीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, द्रव्यप्ररूपणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, नानाजीवोंकी अपेक्षासे काल, अन्तर, भागाभाग और अल्पबहुत्वानुगम। जीवट्ठाणके कथनमें और खुद्दाबंधके कथनमें भेद यह है कि जीवट्ठाणमें मार्गणाके भेदोंमें जो गुणस्थान सत्प्ररूपणानुयोगद्वार द्वारा कहे गये हैं उन गुण-स्थानवर्ती जीवोंकी संख्यादि प्ररूपणाएं कही गई हैं। खुद्दा-बंधमें गुणस्थानोंके विना केवल मार्गणाओंके उन्ही भेदोंमें उक्त बारह अनुयोगद्वार कहे गये हैं। जीवट्ठाणके आठ अनुयोगद्वार और खुद्दाबंधके बारह अनुयोगद्वार एवं बीस अनुयोगद्वारोंमें वे ही चौदह मार्गणाएं हैं और वे ही उनके भेद हैं उन्हीमें उक्त बीस प्रकारकी कार्यावली कही गई है। सत्प्ररूपणामें अस्तित्वरूपसे कही गई कौनसी मार्गणा कौनसे कर्मके उदयादिकसे होती हैं यह कथन खुद्दाबंधमें किया गया है। इन्हीं भावमार्गणाओंमें एक जीवकी अपेक्षा काल अन्तर आदि कहे गये हैं। बन्धस्वामित्व-

निश्चयमें उन्हीं मार्गणाओंके भेदोंके गुणस्थानोंमें और सामान्य गुणस्थानोंमें बन्धव्युच्छित्ति कही गई है। अब देखिये सर्वज्ञप्रतिम भगवद्वीरसेन क्या कहते हैं।—

एत्तो इमेसि चोद्दसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव ट्ठाणाणि णायव्वाणि भवंति ॥२॥

—सत्प्ररूपणानुयोगद्वार.

सूत्रका सामान्य अर्थ यह है कि इस श्रुतप्रमाणसे इन चौदह गुणस्थानोंके अन्वेषण रूप प्रयोजनके होने पर उनमें ये चौदह ही मार्गणास्थान जानने योग्य हैं।

इस सूत्रको व्याख्या वे लिखते हैं कि 'एत्तो' अर्थात् इससे। इससे किससे ? 'प्रमाणात्' अर्थात् द्रव्यभावात्मक श्रुतप्रमाणसे।————'इमेसि' अर्थात् इन। यह प्रत्यक्ष निर्देश अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि आत्माहित संस्कारवाले आचार्यके भावरूप चौदह जीवसमास प्रत्यक्ष हैं। इसलिए 'इमेसि' इस प्रत्यक्ष निर्देशमें कोई विरोध नहीं है। जिनमें जीवोंका संग्रह किया जाता है उन्हें जीवसमास कहते हैं। चौदह ऐसे जीवसमास चतुर्दशजीवसमास है। उन चौदह जीवसमासोंकी अर्थात् गुणस्थानोंको, मार्गणा अर्थात् गवेषण अन्वेषण। मार्गणारूप अर्थ अर्थात् प्रयोजनको मार्गणार्थ कहते हैं। मार्गणार्थके भावको मार्गणार्थता कहते हैं। मार्गणार्थ रूप प्रयोजनके होनेपर। तस्या इति तत्र अर्थात् उसमें। 'इमानि' ये। इस पदके द्वारा

प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणास्थानोंका निर्देश आचार्यने किया है। अर्थमार्गणास्थानोंका अर्थात् द्रव्यमार्गणास्थानोंका निर्देश नही किया है, क्योकि द्रव्यमार्गणास्थान देशकी अपेक्षा, कालकी अपेक्षा और भावकी अपेक्षा विप्रकृष्ट अर्थात् व्यवधित हैं इसलिए द्रव्यमार्गणास्थानोंकी प्रत्यक्षता नहीं बनती है। वे भावमार्गणा-स्थान चौदह ही होते हैं। मार्गणास्थानोंकी संख्या न चौदहसे कम है और न अधिक है ऐसा प्रतिषेध ही एवकारका प्रयोजन है। मार्गणा किसे कहते हैं ? सत् संख्या आदिसे विशिष्ट चौदह जीव समास जिसमें या जिससे अन्वेषण किये जाते हैं उसे मार्गणा कहते हैं। यथा—

'एत्तो' एतस्मादित्यर्थः। कस्मात् ? प्रमाणात्।——'इमेसिं' एतेषां। न च प्रत्यक्षनिर्देशोऽनुपपन्नः, आगमाहितसंस्कारस्याचार्यस्यापरोक्षचतुर्दशभावजीवसमासस्य तद्विरोधात्। जीवाः समस्यन्ते एष्विति जीवसमासाः। चतुर्दश च ते जीवसमासाश्च चतुर्दशजीवसमासाः। तेषां चतुर्दशानां जीवसमासानां चतुर्दशगुणस्थानानामित्यर्थः। तेषां मार्गणा गवेषणमन्वेषणमित्यर्थः। मार्गणा एवार्थः प्रयोजनं मार्गणार्थस्तस्य भावो मार्गणार्थता तस्यां मार्गणार्थतायां। तस्यामिति तत्र। 'इमानि' इत्यनेन भावमार्गणास्थानानि प्रत्यक्षीभूतानि निर्दिश्यन्ते, नार्थमार्गणास्थानानि तथा देश-काल-स्वभावविप्रकृष्टानां प्रत्यक्षतानुपपत्तेः। तानि च माग-

णस्थानानि चतुर्दशैव भवन्ति, मार्गणास्थानसंख्याया न्यूनाधिकभावप्रतिषेधफल एवकारः । किं मार्गणं नाम ? चतुर्दशजीवसमासाः सदादिविशिष्टा मार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेति मार्गणं ।

इस व्याख्यासे स्पष्ट है कि षट्खंडागममें भावमार्गणाओंका प्ररूपण है । और द्रव्यमार्गणाओंका खास तौरसे निषेध भी कर दिया गया है ।

खुद्दाबंधमें कौन मार्गणा किस भावसे पैदा होती है इस विषयका वर्णन करनेके लिए ' एगजीवेण सामित्तं ' नामका अनुयोगद्वार है उसमें सब मार्गणाओंकी उत्पत्ति कही गई है । वेदादि दशमार्गणाओंको तो द्रव्यवेदी भी भावमार्गणा कहते हैं किन्तु आदिकी गति, इंद्रिय, काय और योग इन चारमार्गणाओंको वे भावमार्गणा नहीं मानते हैं । कहते हैं कि " आदिकी चारमार्गणाओंका कथन मुख्यरूपसे द्रव्यशरीरका ही विवेचक है अतः वहां तक भाववेदकी कुछ भी प्रधानता नहीं है केवल द्रव्यवेदकी ही प्रधानता है " । (पेज १९, पंक्ति १६)

अब इस कथनका आचार्योंके वाक्योंसे मिलान कीजिये कि कौनसे शब्दका अर्थ द्रव्यवेद है । गतिके अनुवादसे नरकगतिमें नारकी किसकारणसे होता है ? यह हुआ प्रश्न, उत्तर देते हैं नरकगतिनामकर्मके उदयसे नरकगतिमें नारकी होता है । तिर्यग्गतिमें तिर्यँच किस निमित्तसे होता ? तिर्यग्गतिनामकर्मके उदयसे तिर्यँच होता है । मनुष्यगतिमें मनुष्य कैसे होता है ? मनुष्यगति-

नामकर्मके उदयसे मनुष्य होता है। देवगतिमें देव कैसे होता? देवगति नामकर्मके उदयसे देव होता है। सिद्धगतिमें सिद्ध कैसे होता है? क्षायिक लब्धिसे सिद्ध होता है। यथा—

गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइओ णाम कथं भवदि? णिरयगदिणामाए उदएण। तिरिक्खगदीए तिरिक्खो णाम कथं भवदि? तिरिक्खगदीए णामाए उदएण। मणुसगदीए मणुसो णाम कथं भवदि? मणुसगदिणामाए उदएण। देवगदीए देवो णाम कथं भवदि? देवगदिणामाए उदएण। सिद्धगदीए सिद्धो णाम कथं भवदि? खइयाए लद्धीए।—खुद्दाबंध, एगजीवेण सामित्तं।

यहां चारों गतियोंमें अपने अपने कर्मके उदयसे होनेवाले चार भाव कहे गये हैं और सिद्धोंमें चारों गतियोंके क्षयसे उत्पन्न क्षायिक भाव कहा गया है। चारों गतियां औदयिकभाव हैं। जो जीवोंके असाधारण भाव हैं, जीवको छोडकर अजीव अर्थात् पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालमें वे भाव नहीं पाये जाते हैं। शरीर और द्रव्यवेद इन कर्मोंके उदयसे नहीं होते हैं। वे तो शरीरनामकर्म और अंगोपांगनामकर्मके उदयसे होते हैं। इन दोनोंका उदय भी ऋजुगतिवालेको छोड़कर किसीके एक समय पश्चात् द्वितीयसमयमें किसीके दोसमय बाद तृतीयसमयमें किसीके तीन समय बाद चतुर्थ समयमें होता है और इनका फल पुद्गलमें ही होता है क्योंकि ये दोनों प्रकृतियां पुद्गलविपाकी हैं। तथा चारों गतियां जीवविपाकी हैं, इनके उदयसे जायमान भाव

जीवोंमें उत्पन्न होते हैं। वे भाव कैसे होते हैं, उनका सामान्य-विशेष स्वरूप निम्नप्रकार कहा गया है—

गइकम्मविणिव्वत्ता जा चेट्ठा सा गई होइ।

धवल खंड १ पे. १३५

इस गाथांशमें गतिकर्मके उदयसे जो चेष्टा (भाव) उत्पन्न होता है उस चेष्टाको गति कहा है। यह चेष्टा क्या वस्तु है, उसका स्पष्टीकरण निम्न संग्रह गाथासूत्रोंसे होता है—

ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
अण्णोण्णेहि य जम्हा तम्हा ते णारया भणिया॥ १॥
तिरियंति कुडिलभावं सुवियडसण्णा णिगिट्ठमण्णाणा।
अच्चंतपावबहुला तम्हा तेरिच्छिया णाम॥ २॥
मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा।
मणु–उब्भवा य सव्वे तम्हा ते माणुसा भणिया॥ ३॥
दिव्वंति जदो णिच्चं गुणेहि अट्ठेहि दिव्वभावेहि।
भासंतदिव्वकाया तम्हा ते वण्णिया देवा॥ ४॥

इन गाथासूत्रों द्वारा चारों गतिके जीवोंके स्वरूप या स्वभावका वर्णन किया गया है जो कि स्वरूप या स्वभाव उनमें अपनी अपनी गतिकर्मके उदयसे उत्पन्न होता है।

तत्त्वार्थसूत्रमें औदयिकभावके २१ भेद कहे गये हैं। उनमें एक गतिनामका औदयिक भाव है। उसके चारभेद स्वयं आचार्य उमास्वामीने कहे हैं। इन इक्कीसमें एक मिथ्यात्व भी औदयिक भाव है उसके उदयसे जैसे अतत्त्वश्रद्धानात्मक भाव

होता है वैसे ही गतिकर्मके उदयसे भी जीवोंमे उक्त प्रकारका गतिनामका भाव पैदा होता है जिससे वे नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव व्यवहृत होते हैं। षट्खडागमके प्रणेता आचार्य भी इन नारकादि भेदोको नरकगत्यादिविपाक जन्य भाव मानते हैं। यथा—

जो सो जीवभावबधो णाम सो तिविहो विवागपच्चइयो जीवभावबंधो चेव, अविवागपच्चइयो जीवभावबधो चेव, तदुभयपच्चइयो जीवभावबंधो चेव। १४।

जो सो विवागपच्चइयो जीवभावबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—सो देवेत्ति वा मणुसेत्ति वा तिरिक्खेत्ति वा णेरइएत्ति वा इत्थिवेदेत्ति वा पुरिसवेदेत्ति वा णउसयवेदेत्ति वा कोहवेदेत्ति वा मायवेदेत्ति वा लोहवेदेत्ति वा दोसवेदेत्ति वा मोहवेदेत्ति वा किण्हलेस्सेत्ति वा णीललेस्सेत्ति वा काउलेस्सेत्ति वा तेउलेस्सेत्ति वा पम्मलेस्सेत्ति वा सुक्कलेस्सेत्ति वा असजदेत्ति वा अविरदेत्ति वा अण्णाणेत्ति वा मिच्छादिट्ठित्ति वा जे चामण्णे एवमादिया कम्मोदयपच्चइया उदयविवागे णिप्पण्णा भावा सो सव्वो विवागपच्चइयो जीवभावबधो णाम ॥१५॥

—वग्गणाखड।

इन दोनो सूत्रोका भावार्थ यह है कि जीवोके भावोका बन्ध तीन प्रकारका है विपाकप्रत्यय, अविपाकप्रत्यय और तदुभयप्रत्यय।

कर्मोंके उदयसे जन्य जीवभावबन्धके ये भेद हैं—देव—मनुष्य—तिर्यंच—नारक, स्त्रीवेद—पुरुषवेद—नपुसकवेद, क्रोधवेद-

मानवेद–मायावेद–लोभवेद–रागवेद–दोषवेद–मोहवेद, कृष्ण–नील–कापोत–तेजः–पद्म–शुक्ललेश्या, असंयत–अविरत–अज्ञान और मिथ्यादृष्टि ये और इस प्रकारके ऐसे ही और भाव जो कर्मके उदय कारणक होते हुए उदयरूप विपाकमें निष्पन्न हैं वह सब कर्मविपाक जन्य जीवभावबन्ध है।

इस सूत्रमें भावोंकेबंधका वर्णन करते हुए अपने अपने कर्मके उदयसे होनेवाली औदयिक मार्गणा कह दी गई हैं। इससे स्पष्ट है कि देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक ये चार भी कर्मोदयसे जायमान अतएव उदय विपाकमें निष्पन्न जीवके भाव हैं। ऐसी हालतमें देव, मनुष्य आदि जीवभावोंको शरीरपर्याय कहना आगमविपरीत है। इसी सूत्रमें तीनों वेदोंको भी औदयिक भाव कहा है, द्रव्यवेदका तो इसमें कोई निशान भी नहीं है। यह भाववेद इन्हीं चार गतिके जीवोंमें पाया जाता है। जिस द्रव्यवेदका नाम तक सूत्रोंमें नहीं उसकी प्रधानता कहना और जो भाववेद सूत्रोंद्वारा कहा गया है उसे अप्रधान कहना, इसे क्या कहा जाय विचारिये।

दूसरी इन्द्रियमार्गणा है वह भी क्षायोपशमिकभाव जन्य है। साथमें एकेन्द्रियादि जीव विपाकी जातिनामकर्मका उदय भी उनके है। अतएव दोनोंही एकेन्द्रियत्वादिके प्रति कारण हैं। खुद्दाबंधमें कहा है कि इन्द्रियोंके अनुवादसे कहते हैं कि जीव, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय किस नमित्तसे होता है? क्षयोपशमिकलब्धिसे जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय,

तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय होता है, इन्द्र अर्थात् आत्माके चिह्नको इन्द्रिय कहते हैं। अनिन्द्रिय कैसे होता है? क्षायिक-लब्धिसे अनिन्द्रिय होता है। यथा—

इंदियाणुवादेण एइंदिओ बीइंदिओ तीइंदिओ चउ-रिंदिओ पंचिंदिओ णाम कधं भवदि? खओवसमियाए लद्धीए, इंदस्स लिंगमिंदियं। अणिंदिओ णाम कधं भवदि? खइयाए लद्धीए।—खुद्दाबध।

क्षायोपशमिक लब्धि जीव भाव है। तत्त्वार्थसूत्रमें जीवके अठारह क्षायोपशमिक भाव कहे गये हैं उनमें एकेन्द्रियादि क्षायो-पशमिक लब्धिया भी अन्तर्भूत हैं। षट्खंडागमके पंचमखंडमें तो खूब ही विस्तारके साथ क्षायोपशमिकभाव कहा गया है। तदपि यथा—

जो सो तदुभयपच्चइयो जीवभावबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो-खओवसमियं एइंदियलद्धित्ति वा, खओवसमियं बीइ-दियलद्धित्ति वा, खओवसमियं तीइंदियलद्धित्ति वा, खओव-समियं चउरिंदियलद्धित्ति वा, खओवसमियं पंचिंदियलद्धि-त्ति वा, खओवसमियं मदिअण्णाणित्ति वा, खओवसमियं सुदअण्णाणित्ति वा, खओवसमियं विहंगणाणित्ति वा, खओवसमियं आभिणिबोहियणाणित्ति वा, खओवसमियं सुदणाणित्ति वा, खओवसमियं ओहिणाणित्ति वा, खओ-वसमियं मणपज्जवणाणित्ति वा, खओवसमियं चक्खुदंस-णित्ति वा, खओवसमियं अचक्खुदंसणित्ति वा, खओवस-

मियं ओदइदंसणित्ति वा, खओवसमियं सम्मामिच्छत्तल-
द्धित्ति वा, खओवसमिय सम्मत्तलद्धित्ति वा, खओवसमियं
सजमासजमलद्धित्ति वा, खओवसमियं सजमलद्धित्ति वा,
खओवसमियं दाणलद्धित्ति वा, खओवसमियं लाहलद्धित्ति
वा, खओवसमिय भोगलद्धित्ति वा, खओवसमियं परिभो-
गलद्धित्ति वा, खओवसमियं वीरियलद्धित्ति वा, खओवसमियं
से आयारधरेत्ति वा, खओवसमियं सूदयदधरेत्ति वा, खओ
वसमियं ठाणधरेत्ति वा, खओवसमिय समवायधरेत्ति , वा,
खओवसमिय वियाहपण्णात्तिधरेत्ति वा, खओवसमियं णाह
धम्मकहाधरेत्ति वा, खओवसमियं उवासयज्झयणधरेत्ति वा,
खओवसमिय अंतयडधरेत्ति वा, खओवसमियं अणुत्तरोववा-
दियदसधरेत्ति वा, खओवसमिय पण्णवायरणधरेत्ति वा,
खओवसमियं विवागधरेत्ति वा, खओवसमियं दिट्ठिवादध
रेत्ति वा, खओवसमिय गणित्ति वा, खओवसमयं वाचगेत्ति
वा, खओवसमयं दसपुव्वहरेत्ति वा खओवसमियं चोद्दसपु-
व्वहरेत्ति वा, खओवसमिय जे चामण्णे एवमादिया खओ-
वसमिया भावा, सो सव्वो तदुभयपच्चइओ जीवभावबधो
णाम । — वर्गणाखड

ये सब क्षायोपशमिकभाव हैं । इनमें एकेन्द्रियलब्धि, द्वीन्द्रि-
यलब्धि, त्रीन्द्रियलब्धि, चतुरिन्द्रियलब्धि और पंचेन्द्रियलब्धि ये
पांच लब्धिया भी हैं इन्हींसे क्रमश जीव एकेन्द्रिय होते है,
द्वीन्द्रिय होते हैं, त्रीन्द्रिय होते हैं, चतुरिन्द्रिय होते हैं और पंचे-

न्द्रिय होते हैं। ये ही पांच लब्धियां 'खुद्दाबंध' में सामान्यतः क्षयोपशमिकलब्धि कही गई हैं। विचार कीजिये इन लब्धियोंसे एकेन्द्रियादि जीवों का होना कहा गया है या 'इन्द्रियमार्गणामें एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि इन्द्रिय सम्बन्धी शरीर रचना का कथन' किया गया है। ग्रन्थमें एकेन्द्रिय जीव तो कहे गये हैं और लोगों को झूठा विश्वास दिलाया जा रहा है कि 'इन्द्रियमार्गणामें शरीर रचनाका कथन है' यह कितना अनुचित, अन्यायपूर्ण और आगम विपरीत वक्तव्य है। जिसका कोई मर्यादित परिमाण नही है।

स्पर्शनादि इन्द्रिया कैसे उत्पन्न होती हैं, इस विषयका कथन आचार्य वीरसेनने 'इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया' इत्यादि सूत्रमें खूब विस्तारके साथ किया है। ऐसा करके भी वे कहते हैं कि यह व्याख्यान यहां जीवट्ठाणमें प्रधान नही है क्योंकि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति-नामकर्म के उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय होते हैं, इस भावसूत्रके साथ विरोध पड़ता है, इसलिए एकेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय होते हैं, द्वीन्द्रियजातिनामकर्मके उदयसे द्वीन्द्रय होते हैं, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मके उदयसे त्रीन्द्रिय होते हैं, चतुरिन्द्रिय जातिनामकर्मके उदयसे चतुरिन्द्रिय होते है और पंचेन्द्रियजातिनामकर्मके उदयसे पंचेन्द्रिय होते है यह अर्थ यहापर प्रधान हैं, क्योंकि यह अर्थ यहां पर निरवद्य है। यथा—

नेदं व्याख्यानमत्र प्रधानं, ' एकद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रिय-जातिनामकर्मोदयादेकद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रिया भवन्ति ' इति ' भावसूत्रेण ' सह विरोधात् । तत एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रियः, द्वीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात् द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात् त्रीन्द्रियः, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मोदयाच्चतुरिन्द्रियः, पंचेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पंचेन्द्रियः । एषोऽर्थोऽत्र प्रधानं निरवद्यत्वात् ।

—धवल पें. २४८

एकेन्द्रियादि जातिनामकर्म भी औदयिकभाव हैं जिनका फल मुख्यत जीवमें ही पाया जाता है। विग्रहगतिमें शरीर नहीं है फिर भी एकेन्द्रियादिनामकर्मके उदयसे उत्पन्न एकेन्द्रियत्वादि औदयिकभावोंका और क्षयोपशमात्मक लब्धीन्द्रियोंका स्वामी जीव है, पौद्गलिक शरीर इन भावोंका स्वामी न विग्रह गतिमें ही है और न विग्रहगतिके अलावा समयोंमें ही है। पौद्गलिकशरीरको यदि इन औदयिक भावोका स्वामी माना जायगा तो ये एकेन्द्रियत्वादिभाव जीवके असाधारण भाव नही ठहरेंगे। अत शरीरके होते हुए भी ये भाव जीवमें ही होते हैं। उनका सम्बन्ध शरीरके साथ नहीं है। शरीर एकेन्द्रियादि जीवोंके होता भी है, इसका निषेध नहीं किया गया है। एकेन्द्रियत्वादि भावोंका शरीरमें होनेका निषेध किया गया है।

खुद्दाबंधके पेज १६ सूत्र नौमें एक शंका उठाई गई है कि सयोगिकेवली और अयोगिकेवली भगवान्, जिनने केवलज्ञान और केवलदर्शनसे सम्पूर्ण प्रमेय देख लिये हैं और जो इन्द्रियके व्यापारसे विरहित हैं उन्हें पंचेन्द्रिय कैसे कहा जाता है ? इसका उत्तर दिया गया है कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पचेन्द्रियनामकर्मके उदयकी अपेक्षा लेकर उनमें पंचेन्द्रियत्वका व्यपदेश किया गया है। यथा—

सजोगिकेवलि-अजोगिकेवलीणं केवलणाणदंसणेहि दिट्ठसव्वपमेयाण करणवावारविरहियाणं कधं पंचिंदियत्तं ? ण एस दोसो, पंचिंदियणामकम्मोदयत्तं पडुच्च तेसिं-तव्ववएसादो।

दोनों ही केवलियोंके शरीर मौजूद हैं उस शरीरमें द्रव्ये न्द्रियां भी पांचों हैं। फिर भी उनको लेकर उत्तर नहीं दिया गया कि पाचों द्रव्येन्द्रियोंसे युक्त उनके शरीर हैं इसलिए वे पंचेन्द्रिय होते हैं किन्तु उत्तर यह दिया गया है कि पंचेन्द्रिय नामकर्मका उनके उदय है इस कारण सयोगि-अयोगि भगवान् पचेन्द्रिय होते हैं। हालांकि उनके शरीर है और शरीरमें पांचों ही द्रव्येन्द्रिया हैं।

तीसरी कायमार्गणा है। इसके मूल छह भेद हैं। छहोंकी उत्पत्ति खुद्दाबंधमें यों कही गई है। " कायके अनुवादसे जीव पृथिवीकायिक कैसे होता है ? पृथिवीकायिकनामकर्मके उदयसे होता है। अप्कायिकजीव कैसे होता ? अप्कायिकनामकर्मके उद

यसे होता है । तेज. कायिक कैसे होता है ? तेज.कायिक नाम-कर्मके उदयसे होता है । वायुकायिकजीव कैसे होता है ? वायु-कायिकनामकर्मके उदयसे होता है । वनस्पतिकायिक कैसे होता है ? वनस्पतिनामकर्मके उदयसे होता है । त्रसकायिक कैसे होता है ? त्रसकायिकनामकर्मके उदयसे होता है । अकायिक कैसे होता है ? क्षायिकलब्धिसे होता है । ”

यह अनुवाद मात्र है । सूत्र देखने हों तो खुद्दाबंधके ‘ एयजीवेण सामित्त ’ नामका अनुयोगद्वार देख जाइये । लेख बढ़नेके भयसे यहां नही लिखे गये हैं । पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पतिकायिक तकके नामकर्म एकेन्द्रियजातिनामकर्मके अवान्तर भेद हैं । त्रसनामकर्म नामकर्मकी प्रकृतियोमें स्वतंत्र गिनाया ही गया है । ये छहो नामकर्म जीवविपाकी हैं । इनके उदयसे जीव ही पृथिव्यादि पर्यायियोंको प्राप्त होता है । इस कथनमें शरीर सम्बन्ध इन जीवोंके नही कहा है । शरीर तो शरीरनामकर्मके उदयसे होता है । उससे जीव पृथिवीकायिक आदि नही होता है । पृथिवीकायिक आदि नामकर्म औदयिक भाव हैं । औदयिक भाव जीवोंको छोड़कर पुद्गल आदिमें नही पाये जाते हैं । इनका फल जीवको ही मिलता है । इसलिए जीव इनके उदयसे पृथिवी-कायिकादि रूप परणमते हैं । शरीर रूप वे नही परणमते हैं । कहनेका तात्पर्य यह है कि इन सूत्रोद्वारा जीव ही कहे गये हैं, शरीर नही कहे गये हैं । अत यह मार्गणा भी खासकर भाव रूप ही कही गई है । द्रव्यरूप नहीं कही गई है ।

चौथी योगमार्गणा है। इसकी उत्पत्ति भी इस प्रकार कही है। योगके अनुवादसे मनयोगवाला, वचनयोगवाला और काय-योगवाला जीव कैसे होता है? क्षायोपशमिकलब्धिसे होता है। अयोगी कैसे होता है? क्षायिकलब्धिसे होता है। यथा—

कायाणुवादेण मणजोगी वचिजोगी कायजोगी णाम कथं भवदि? खओवसमियाए लद्धीए। अजोगी णाम कथं भवदि? खइयाए लद्धीए।

यह भी भावमार्गणा ही है। क्योंकि जीवके भावोंसे उत्पन्न होती है। इस मार्गणाके अवान्तर भेद भी भावरूप ही हैं, क्योंकि जीवके क्षायोपशमिक भावोंसे उत्पन्न होती हैं। इनके द्वारा शरीरोंका होना नहीं कहा गया है। क्योंकि शरीर क्षयोप-शमलब्धिसे नहीं होते हैं। क्षयोपशमलब्धिसे योग ही होते हैं इसलिए योग ही इस सूत्रसे कहे गये हैं। काययोग भी मुख्यत. क्षयोपशमसे आत्मलाभ प्राप्त करता है औदारिकादिकाययोग इसके भेद हैं। औदारिकादि शरीर इसके भेद नहीं हैं। यद्यपि शरीरोंसे काययोगोंका घनिष्ट सम्बन्ध है, फिर भी औदारिकादि शरीरोंके उत्पन्न होनेकी सामग्री जुदी है उनसे औदारिकादि शरीर होते हैं। यहां वह न सामग्री कही गई है और न ही उससे जाय-मान शरीर कहे गये हैं। जीवट्ठाणमें योगोंके भेद-प्रभेदोंका अस्तित्व और उनमें गुणस्थानोंका अस्तित्व कहा गया है। 'खुद्दा-बंध' में उन्हीं योगोंकी उत्पत्तिका कारण कहा गया है। जिस परसे यह मार्गणा भी भावमार्गणा ही है।

आगेकी सब मार्गणाएं भी भावमार्गणाए है, वे भी कोई उदयसे, कोई क्षयोपशमसे कोई क्षयसे कोई उपशमसे और कोई पारिणामिक भावसे उत्पन्न होती हैं। शरीरधारी जीवोंके होती हों–होवें, या वे जीव जिनके ये मार्गणाएं कही गई हैं वे शरीरधारी हैं–रहें। अशरीरियोंके भी होती हैं। सिद्ध अशरीरी ही होते हैं उनके भी प्राय मार्गणाओंके कितने ही उत्तर भेद पाये जाते हैं जो कि कर्मोंके क्षयसे और उदयाभाव रूप क्षयसे पाई जाती हैं। तात्पर्य शरीरके विना भी मार्गणाए होती हैं। शरीरवालोंके भी होती हैं, शरीरसे रहित विग्रहगति-वालोंके भी होती हैं। भावरूपता सर्वत्र है! शरीर इन चारमार्ग-णावालोंके होता है एतावता मार्गणाएं शरीर नहीं हो सकती। विग्रहगतिमें शरीर और द्रव्यवेदके न होते हुए भी सामान्यत चौदहो मार्गणाए होती हैं अत इन मार्गणाओंके होते हुए शरीर और द्रव्यवेदके होनेका कोई नियम नही है। नियमके अभावमें शरीर और द्रव्यवेदकी प्रधानतासे चार मार्गणाओंका विवेचन है। यह कथन अतिसाहस पूर्ण है। शरीरनामकी कोई मार्गणा भी नहीं है।

जीवोंके विग्रहगतिके बाद शरीरनामकर्म और अगोपांग नामकर्मका उदय आता है उनसे कोईसी भी भावमार्गणाए उत्पन्न नहीं होती हैं। शरीर बना देना उसमें अंगोपागकी रचना कर देना इतना ही इनका कार्य है। कोई सी भी मार्गणा इनका कार्य नहीं है।

हो भी तो उससे भी जीवभावरूप मार्गणा होगी, शरीर भा।रूप नहीं होगी। क्योंकि शरीरभावरूप कोई मार्गणा चौदह मार्गणाओंमें नहीं कही गई है। इस विषयके स्पष्टीकरणार्थ धवलोक्त एक शंका-सामाधान यहां दिया जाता है। शंका—नरक तिर्यंच, मनुष्य और देव ये गतियां यदि केवल-अकेली ही उदयमें आती हों तो नरकगतिके उदयसे नारकी, तिर्यग्गतिके उदयसे तिर्यंच मनुष्यगतिके उदयसे मनुष्य और देवगतिके उदयसे देव कहना युक्त हो सकता है, किन्तु अन्य प्रकृतियां भी उनमे उदयको प्राप्त होती हैं, उनके बिना नरक, तिर्यक् मनुष्य और देव इन गतिनामकर्मोंका उदय अनुपलब्ध है।

(आगे 'तद्यथा' कहकर नामकर्मकी प्रकृतियोंके चारों गतिसम्बन्धी नामसहित स्थान कहे गये हैं। नरक गतिमें २१, २५, २७, २८, २९ एवं पांच कालोमें पांच स्थान, तिर्यंचगतिमे २१, २६, २८-२९, २९-३०, ३०-३१ एवं पांच कालोमें छह स्थान, मनुष्यगतिमें २१-२०-२१, २५, २६-२६-२७-२५, २८-२८-२९-२७, २९-२९-३०-२८, ३०-३१-३१-२९, ९, ८ एवं पांचकालोंमे ग्यारह स्थान, और देवोमें २१, २५, २७, २८, २९ एवं पांच कालोंमें पांच उदयस्थान होते हैं। इनमें चारो गतियोंमें अपनी अपनी गतिके साथ अन्य भी नामकर्मकी प्रकृतियोंका उदय है)

इसलिए नरकगति, तिर्यंगति, मनुष्यगति और देवगति नामकर्मके उदयसे ही नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव होता है यह बात घटित नही होती है ? इसके उत्तरमें भगवद्वीरसेन कहते हैं कि यह विषम उपन्यास है। क्योंकि नरकगति आदि चार गतियोके उदयकी तरह उन नारक आदि जीवोमें शेष कर्मोके उदयका अविनाभाव नही है। जिस प्रकृतिका उत्पत्तिके प्रथम समयसे लेकर चरमसमयपर्यन्त नियमसे उदय होकर विवक्षित गतिको छोड़कर अन्यत्र उदयके अभावका नियम दिखता है उसके उदयसे जीव नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव होता है ऐसा निर्देश किया गया है। अन्यथा अनवस्थान नामका दोष आता है। यथा—

णिरय–तिरिक्ख–मणुस–देवगदीओ जदि केवलाओ उदयमागच्छंति तो णिरयगदिउदएण णेरइओ तिरिक्खगदिउदयण तिरिक्खो मणुसगदिउदएण मणुस्सो देवगदिउदएण देवोत्ति वोत्तुं जुत्तं, किंतु अण्णाओ वि पयडीओ तत्थ उदयमागच्छंति ताहि विणा णिरयगदि–तिरिक्खगदि — मणुसगदि — देवगदिणामाणमुदयाणुवलंभादो। तंजहा————तम्हा णिरयगदितिरिक्खगदिमणुसगदिदेवगदीणमुदएणेव णेरइओ तिरिक्खो मणुस्सो देवो होदि त्ति ण घडदे ? विसमो उवण्णासो। कुदो ? णिरयगदिआदिचदुगदिउदयाणं व सेसकम्मोदयाणं तत्थ अविणाभावाणुवलंभादो। जिस्से पयडीए उप्पण्णपढमसमयप्पहुडि

जाव चरिमसमओ त्ति णियमेण उदओ होदूण अप्पिदगइं मोत्तूण अण्णत्थ उदयाभावणियमो दिस्सइ तिस्से उदएण णेरइओ तिरिक्खो मणुसो देवोत्ति णिद्देसो कीरदे, अण्णहा अणवट्ठाणादो।

यहांपर नामकर्मकी अन्य प्रकृतियोंका जिनमें कि शरीर नामकर्म और अंगोपांग नामकर्म भी है उनका उदय नारकादि-गतियोंके साथ होते हुए भी उन अन्य प्रकृतियोंके उदयसे नारकी आदि होना निषेधा गया है और नरकादि चार गतियोंके उदयसे ही नारकी आदि होनेका विधान किया गया है। इससे मालूम होता है नरकगतिआदिके उदयसे ही उसके उदयपर्यन्त ही नारकी आदि व्यपदेश और नारकरूपरिणति पाई जाती है। शरीरादि अन्य प्रकृतियोंका उदय होते हुए भी नारकादिभाव या नारकादिपर्यायें नहीं होती हैं। नामकर्मकी प्रकृतियोंके पांच उदयकाल हैं। विग्रहगतिकाल, शरीमिश्रकाल, शरीरपर्याप्तिकाल, श्वासोच्छ्वासकाल और भाषापर्याप्तिकाल। इन कालोंमें उन उन गतियोंमें उक्त उदयस्थान होते हैं, विग्रहगतिमें जो इक्कीस प्रकृतियोंका स्थान है उसमें शरीर नामकर्म और अंगोपांग कर्मका उदय नहीं है। इनका उदय शरीरमिश्रकालमें आता है, शरीर नामकर्मके उदयसे जीव नोकर्मवर्गणा ग्रहण करता है और अंगो-पांग नामकर्मके उदयसे अंगोपांगकी रचना करता है, तथा अपनेमें स्थित यथासंभव पर्याप्तिरूप शक्तिकी पूर्णता हो जानेपर उन नोकर्मवर्गणाओंको खलरसभागादिरूप परिणमाता है तब कहीं

आगे चलकर शरीर बनता है। शरीरके बननेमें नोकर्मवर्गणा उपादन कारण है और पर्याप्तियां निमित्त कारण हैं। इन कारणों से शरीरकी रचना होती है। वह रचना उक्त कारणोंसे होती है, नरकादि चार गतियोंके उदयसे शरीर रचना नहीं होती है, उनके उदयसे तो नारकादि भाव उत्पन्न होते हैं इन्हीं भावोंका नाम नारकी तिर्यंच, मनुष्य और देव है। अतः समझ लीजिये कि नरकादिगतियोंके उदयसे जीव शरीर पर्यायोंको धारण नहीं करता है। इसी तरह एकेन्द्रियादि जातिनामकर्मों, पृथिव्यादिनामकर्मों और योगोंसे भी जीव शरीर नहीं बनाता है। इनके उदयसे व क्षयोपशमसे तो एकेन्द्रियादि भाव पैदा होते हैं अतएव ये आदिकी चारमार्गणाएं भी भावमार्गणाएं ही हैं। षट्खंडागममें सब मार्गणाएं भावमार्गणाएं ही हैं, इस विषयमें ऊपर पुष्कल प्रमाण दिये जाचुके हैं। अतः अब इस विषयको थोड़ा और लिखकर यहां ही समाप्त करते हैं।

भगवत्पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धिमें कहते हैं कि 'नरकगतिनामकर्मोदयान्नारको भावो भवतीति नरकगतिरौदयिकी, एवमितरत्रापि' (पेज ६४) अर्थात् नरकगतिनामकर्मके उदयसे नारकभाव होता है इसलिए नरकगति औदयिकी है। इसीप्रकार तिर्यचादि गतियोंके सम्बन्धमें भी समझना। तथा 'यन्निमित आत्मनो नारको भावस्तन्नरकगतिनाम, एवं शेषेष्वपि योज्यं। (पेज ९४) अर्थात् जिसके निमित्तसे आत्माका नारक रूप भाव हो उसको नरकगति नामकर्म कहते हैं। इसीप्रकारकी तिर्यंचादिगतियोंमें

भी योजना करलेना । यहीबात एकसिरेसे गोम्मटसारकार, भास्क-रनन्दी, अकलंकदेव, विद्यानन्दी आदि प्रौढ आचार्य कहते हैं। अतः निःसन्देह सिद्ध होता है कि गत्यादिमार्गणाएं भावमार्ग-णाएं हैं। इन सब आचार्योंके उद्धरण लेख बढ़ जानेके भयसे नहीं दिये हैं। तथा अन्य एकेन्द्रियादिकोंके सम्बन्धके उद्धरण भी इसी हेतुवस नही दिये हैं। देखना चाहें तो इनके द्वारा निर्मित ग्रन्थोंमें देख सकते हैं।

षट्खंडागममे भावमार्गणाओंका कथन है, द्रव्यमार्गणाओंका नही है इसपर हम अधिक जोर इसलिए देते हैं कि जिन लोगोंको षट्खंडागममें द्रव्यस्त्रीमुक्तिकी गन्ध आती है, वह ग्रन्थसंगत नहीं है। द्रव्यमार्गणा साबित होनेपर तो उन लोगोंको साचिव्य प्राप्त होगा। इसे खूब अच्छीतरह समझलेना चाहिये।

जीवट्ठाणके आठअनुयोगद्वार भी भावजीवोंमें कहे गये हैं।

ग्रंथोका स्वरूप जाननेके लिए उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुगम इन चारकी आवश्यकता है। जीवट्ठाणका स्वरूप जान-नेके लिए भी इन चारका उपयोग किया गया है। इनमेंसे उप-क्रमके पांच भेद हैं आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। आनुपूर्वीके तीन भेद हैं। उनमेंसे पूर्वानुपूर्वीकी

अपेक्षा छह खंडोंमेंसे यह जीवट्ठाण पहला खंड है। नामके दश भेद हैं उनमेंसे जीवस्थान यह कौनसा नाम है ? इसका उत्तर दिया गया है कि जीवोंके स्थानोंका वर्णन यह करता है इसलिए ' जीवट्ठाण ' यह इसका सार्थक नाम है। **तत्थेदस्स जीवट्ठास्स णामं किं पदं ? जीवाणं ट्ठाणवण्णणादो जीवट्ठाणमिदि गोण्णपदं।** इससे यह निश्चित होता है कि जीवस्थानमें जीवोंके मिथ्यात्वादि और गत्यादिस्थानोंका वर्णन है। प्रमाणके द्रव्यप्रमाण आदि पांच भेद हैं। यहांपर यह जीवस्थान इन पांच प्रमाणोंमें से कौनसा प्रमाण है ? यह प्रश्न होकर उत्तर दिया गया है कि यह जीवस्थान भावप्रमाण है। भाव भी पांच प्रकारका है उनमेंसे यह जीवस्थान ' श्रुतभावप्रमाण ' है। यथा— **एत्थ इदं जीवट्ठाणं एदेसु पंचसु पमाणेसु कदमं पमाणं ? भावपमाणं। तं पि पंचविहं, तत्थ पंचविहेसु भावपमाणेसु सुदभावपमाणं।** वक्तव्यता यहां जीवस्थानमें स्वसमयवक्तव्यता है क्योंकि स्वसमयकाही इसमें प्ररूपण किया गया है। **एत्थ पुण जीवट्ठाणे ससमयवत्तव्वदा, ससमयस्सेव परूवणादो।** अर्थाधिकार तीन प्रकारका है। उनमेंसे इस जीवस्थानमें एक ही प्रमेय नामका अर्थाधिकार है। क्योंकि उसीका इसमें प्ररूपण किया गया है। **एत्थ जीवट्ठाणे एक्को चेय अत्थाहियारो पमेयपरूवणादो।** जीव नामके प्रमेयकाही इसमें खासकर प्ररूपण पाया जाता है। इसलिए यही यहांपर एक अर्थाधिकार है।

निक्षेप नामजीवस्थान, स्थापनाजीवस्थान, द्रव्यजीवस्थान, और भावजीवस्थानके भेदसे चार प्रकारका है। उनमेंसे यहांपर 'नो आगमभाव जीवस्थान' प्रकृत है। नो आगमभाव जीवस्थान किसे कहते हैं? इस सम्बन्धमें भी कहते है कि नो आगमभावजीवस्थान मिथ्यादृष्टि आदि चौदह जीवसमासोंको कहते हैं। यथा—

णिक्खेवो चउव्विहो णामट्ठवणादव्वभावजीवट्ठाणभेएण।———— एत्थ णोआगमभावजीवट्ठाणं पयदं। णोआगमभावजीवट्ठाणं मिच्छाइट्ठियादिचोद्दसजीवसमासा।

इस निक्षेपविधिपरसे यह जान लेना सुगम है कि जीवस्थानमें मिथ्यादृष्टि आदि चौदह भावगुणस्थानोंका कथन है। इसी प्रकार गत्यादिमार्गणाओंमें भी प्रत्येकके नामगति, स्थापनागति, द्रव्यगति और भावगति इत्यादि चार चार भेद हैं। उनमेंसे नोआगमभावगति, नोआगमभाव इन्द्रियजाति, नोआगमभावरूप कायजाति और नोआगमभावरूपयोगादि चौदह मार्गणास्थान भी नोआगमभावरूप हैं। प्रमाणके लिए खुद्दाबंधका 'एगजीवेण सामित्तं' नामका अनुयोग द्वार देख जाइये। क्योंकि वहांपर गति, जाति आदि चौदह पर्यायोंसे परिणत जीवोंमें यह निक्षेपविधि कही गई है। और यह भी कहा है कि यहांपर मार्गणाओंमें नोआगमभावगति आदि प्रकृत हैं।

जीवट्ठाण सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम आदि आठ अनुयोगद्वारोंमें विभक्त है। उसके अन्तमें नवचूलिका

नामका एक अधिकार और है। ये सब अधिकार गत्यादिनोआ-गमभावरूप परिणत जीवोमें कहे गये है। पहला सत्प्ररूपणा अधिकार है। इसमें चौदह सामान्य गुणस्थानोका, चौदह मार्गणाओका उनके भेदोका प्रभेदोंका और उनमें संभवगुणस्थानोका अस्तित्व कहा गया है। ये सब नोआगमभावरूप हैं यह ऊपर कहा जाचुका है।

द्रव्यप्रमाणानुगममें सत्प्ररूपणामें कहे गये जीवोकी गणना मय सामान्य-विशेषगुणस्थानोके कही गई है। सबसे प्रथम मिथ्यादृष्टि जीवोकी संख्या अनन्त कही गई। धवलाकारने नामानन्त आदि अनन्तके कई भेद कहे हैं। उस परसे शंकाकार पूछता है कि इन अनन्तोमें से कौनसा अनन्त प्रकृत है? उत्तर दिया गया है कि गणनानन्त प्रकृत है। यथा— एदेसु अणंतेसु केण अणंतेण पयदं? गणणाणंतेण पयदं।

इसी प्रकार सब प्रकारके एकेन्द्रियजीवोकी, सब प्रकारके वनस्पतिकायिकजीवोकी और औदारिककाययोगी व औदारिक मिश्रकाय योगी मिथ्यादृष्टि जीवोकी संख्या अनन्त अनन्त कही है। यथा—

ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया? अणंता।२।

इंदियाणुवादेण एइंदिया बादरा सुहुमा पज्जत्ता अपज्जत्ता दव्वपमाणेण केवडिया? अणंता॥ ७४॥

वणप्फदिकाइया णिगोदजीवा बादरा सुहुमा पज्जत्ता अपज्जत्ता दव्वपमाणेण केवडिया? अणंता। ९५।

कायजोगि–ओरालियकाय जोगीसु मिच्छाइट्ठी मूलोघं।
ओरालियमिस्सकायजोगीसु मिच्छाइट्ठी मूलोघं।

इनसूत्रोंद्वारा जिन जीवोंकी संख्या अनन्त कही गई है। वह जीवोंकी ही संख्या कही गई है। शरीरोंकी संख्या नही कही गई है। कैसे ? सुनिये— मिथ्यादृष्टिजीवोंकी अनन्तराशिमें सब एकेन्द्रिय भी अन्तर्भूत हैं, सब वनस्पतिकायिक और निगोद-जीव भी अन्तर्भूत हैं तथा औदारिककाययोगी और औदारिक-मिश्रकाययोगी भी अन्तर्भूत हैं। इसलिए इनमेंसे कोईसी भी अनन्त राशी ले लीजिये। उन सबमें अनन्तानन्त निगोदजीव भी मौजूद हैं। उनके सम्बन्धमें कहा गया है कि जिन अनन्तानन्त जीवोंका साधारण रूपसे एक ही शरीर होता है उन्हें निगोद-जीव कहते हैं। यथा—

जेसिमणंताणंतजीवाणं एकं चेव सरीरं भवदि साधा-रणरूवेण ते णिगोदजीवा भणति। खंड ५ पे. ३५७।

खुद षट्खंडागमकार भी कहते हैं कि एकनिगोदसरीरमें निगोदजीव द्रव्यप्रमाणसे सिद्धराशिसे व सब अतीतकालसे अनन्तगुणे हैं। यथा—

एयणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वि तीदकालेण ॥ १ ॥

इसपरसे यह जानलेना अतिसुगम है कि उन अनन्तराशि-वाले जीवोंके औदारिक शरीर अनन्त नहीं हैं। अन्यथा एक शरीरके स्वामी अनन्तानन्त निगोदजीव कैसे होंगे ?।

वैक्रियिकशरीर असंख्यात हैं आहारकशरीर संख्यात हैं। औदारिकशरीर भी असंख्यात ही हैं। तीनों मिलकर भी असंख्यात ही हैं। इस नई बातको सुनकर चौंकिये नही किन्तु अकलंकदेवर्षिके इन वचनोंपर दृष्टिपात कीजिये—

संख्यातोऽन्यत्वं—औदारिकाणि असख्येया लोकाः, वैक्रियिकाणि असंख्याताः श्रेणयः लोकप्रतरस्य असंख्येयभागः, आहारकाणि संख्येयानि चतुःपंचाशतः।— राजवार्तिक अ. २।

अर्थात् संख्याकी अपेक्षा औदारिकादिशरीरोमें परस्परमें विभिन्नता है। क्योंकि औदारिकशरीर असंख्यातलोकप्रमाण हैं, वैक्रियिकशरीर असंख्यातश्रेणिप्रमाण हैं जो कि लोक प्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। तथा आहारकशरीर चौवनसंख्याप्रमाण हैं। इन तीनो शरीरोकी संख्याको जोड़ दीजिये असंख्यातसे अधिक नही होती। किन्तु इन शरीरोके धारक जीवोकी संख्या अनन्त है। एकेन्द्रियजीव अनन्त, और शरीर उनके असंख्यात, वनस्पतिकायिकजीव अनन्त और शरीर उनके असंख्यात, तथा औदारिककाययोगी जीव अनन्त और शरीर उनके असंख्यात। इससे स्पष्ट है कि द्रव्यप्रमाणानुगम अनुयोगद्वारमें भी आदिकी चार मार्गणाओमें भी जीवोकी संख्या ही कही गई है। शरीरोकी संख्या नही कही गई है।

द्रव्यप्रमाणानुगमके आगे क्षेत्रानुगम है। क्षेत्र भी नामक्षेत्र, स्थापनाक्षेत्र, द्रव्यक्षेत्र और भावक्षेत्र इन चार विभागोमें विभक्त

है । इनमेंसे कौनसा क्षेत्र यहांपर अधिकृत है । इस प्रश्नपूर्वक उत्तर दिया गया है कि यहांपर नोआगमद्रव्यक्षेत्र अधिकृत है । निर्देशादिककी अपेक्षा कहा गया है कि नोआगमद्रव्यक्षेत्र क्या वस्तु है ? उत्तर देते हैं कि वह नोआगमद्रव्यक्षेत्र आकाश है । यथा—

एदेसु खेत्तेसु केण खेत्तेण पयदं ? णोआगमदो दव्व-खेत्तेण पयदं । णोआगमदो दव्वखेत्तं णाम किं ? आगासं गगणं देवपथं गेज्झकाचरिदं अवगाहलक्खणं आधेयं वियापगं आधारो भूमित्ति ।

यह क्षेत्र नोआगमसे भावक्षेत्रवाले जीवोंका कहा गया है । नोआगमसे भावक्षेत्र आगमके विना अर्थोपयुक्त जीवको अथवा औदयिकादि पांचप्रकारके भावोंको कहते हैं । इन पांचप्रकारके भाववाले जीवोंका आधार आकाशक्षेत्र है ऐसा यहां समझना चाहिए । शरीर जीवोके होते हैं इसलिए जीवोंके अवगाहके साथ साथ कहीं कहीं शरीरोंका अवगाह क्षेत्र भी आ जाता है फिर भी वह क्षेत्र शरीरोंका नहीं जीवोंका ही समझना चाहिए। क्योकि शरीरोके साथ इसका मेलजोल नही बैठता है ।

सयोगिकेवली जिनका वर्तमान क्षेत्र निवास लोकका असं-ख्यातवां भाग, लोकके असंख्यात बहुभाग एवं सर्वलोक ऐसे तीन प्रकारका कहा गया है । यथा —

सजोगिकेवली केवडि खेत्ते ? लोगस्स असंखेज्जदि भागे असंखेज्जेसु वा भागेसु सव्वलोगे वा । ४ ।– क्षेत्रानुगम

प्रत्येक क्षेत्रके सम्बन्धमें धवलाकार कहते हैं—

दंडगदो केवली केवडि खेत्ते ? चउण्हं लोगाणमसंखे-ज्जदिभागे अड्ढाइज्जादो असंखेज्जगुणे।

कवाडगदो केवली केवडि खेत्ते ? तिण्हं लोगाणमसंखे-ज्जदिभागे अड्ढाइज्जादो असंखेज्जगुणे।

पदरगदो केवली केवडि खेत्ते ? लोगस्स असंखेज्जेसु भागेसु। लोगपूरणगदो केवली केवडि खेत्ते ? सव्वलोगे।

यह केवलीका क्षेत्रनिवास इस बातकी सिद्धि करता है कि क्षेत्रानुगम अनुयोगद्वार चौदहगुणस्थान और चौदहमार्गणास्थानवर्ती भावजीवोमें वर्तमान क्षेत्रनिवासको कहता है न कि औदारिकादि तीन शरीरोके क्षेत्र निवासको। औदारिकादि तीन शरोरोका क्षेत्र निवास सिर्फ लोकका असंख्यातवाभाग मात्र है। यथा—

क्षेत्रतोऽन्यत्वं-औदारिकवैक्रियिकाहारकाणि लोक-स्यासंख्येयभागक्षेत्रे। राजवार्तिक अ. २

लोकके असख्यातबहुभागो में अथवा सर्वलोकमें किसी भी एक औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीरका निवास नहीं है।

स्पर्शनके नामस्पर्शन, स्थापनास्पर्शन, द्रव्यस्पर्शन, क्षेत्रस्पर्शन, कालस्पर्शन और भावस्पर्शन ये छह भेद हैं। इनमेंसे इस प्रकरणमें जीवोका क्षेत्रस्पर्शन प्रकृत है। यथा—एदेसु फोसणेसु जीवखेफो-सणेण पयदं।

केवलीका स्पर्शक्षेत्र भी पूर्वोक्त प्रमाण है। यथा—

सजोगिकेवलीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो असंखेज्जा वा भागा सव्वलोगो वा ।

यह स्पर्शक्षेत्र भी आत्माका है । क्योंकि किसी भी औदारिक शरीरका स्पर्शक्षेत्र लोकके असंख्यात बहुभाग और सर्वलोक असंभव है । यह सिर्फ आत्मामें ही संभवता है ।

औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोंके स्पर्शक्षेत्र इस प्रकार कहा गया हैं—

स्पर्शतोऽन्यत्वं औदारिकादीनां एकजीवं प्रति वक्ष्यामः औदारिकेण तिर्यग्भिः सर्वलोकः स्पृष्टः । मनुष्यैः लोकस्यासंख्येयभागः । मूलवैक्रियिकशरीरेण लोकस्यासंख्येयभागः उत्तरवैक्रियिकशरीरेण अष्टौ चतुर्दशभागा देशोनाः । कथं ? सौधर्मदेवाः स्वपरप्राधान्यादारणाच्युतविहारात् षड्रज्जूर्गच्छन्ति स्वप्राधान्यात् अधः आवालुकापृथिव्या द्वे रज्जू इति । आहारकेण लोकस्यासंख्येयभागं स्पृशति ।

तीन शरीरोंका उक्त स्पर्श अतीत काल सम्बन्धी है । अतीत कालमें एक तिर्यंचके अगणित शरीर होचुके हैं उसके अपने उस औदारिक शरीरसे सर्वलोक स्पर्श कहा गया है । एक भवमें एक शरीरके द्वारा कोई भी जीव सम्पूर्ण लोकका स्पर्श नहीं कर सकता । अथवा उक्त कथन नानाजीवोंकी अपेक्षासे है । नाना तिर्यंच जीवोंने अपने औदारिक शरीरसे सम्पूर्ण लोकका स्पर्श किया है । इत्यादि । खैर, कुछ भी हो केवलीका स्पर्शक्षेत्र आत्माका स्पर्शक्षेत्र है । शरीरका नहीं है । अतः इस कथनसे सब गुणस्थान

और मार्गणास्थानवाले जीवोका स्पर्शक्षेत्र जीवट्ठाणमें कहा गया है यह निश्चित होता है। वेदना, कषाय आदि सात समुद्घात जीवों में होते हैं उसवक्त आत्माके प्रदेशही शरीरसे बाहर निकलते हैं अत: सप्तसमुद्धातोको लेकर वर्णित क्षेत्र और स्पर्श जीवोका ही कहा गया है ऐसा निश्चित रीत्या समझना चाहिए।

कालके नामादि चारभेद है। यहा भी यह प्रश्न किया गया है कि यहां कौनसा काल प्रकृत है। उत्तर दिया गया है कि यहां नोआगमसे भावकाल प्रकृत है। एत्थ केण कालेण पयदं ? णोआ-गमदो भावकालेण पयदं। जीवट्ठाणके इस प्रकरणमे गुणस्थानोका और मार्गणाओका जघन्योत्कृष्ट काल कहा गया है। जो एक जीवकी अपेक्षा जघन्यसे एक समयतकका और उत्कृष्टसे आठसौ पल्य, आठसौ सागर एवं असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन तकका कहा गया है। जोकि एक भाव जीवको छोड़कर एक शरीरका इतना काल कैसे भी नही बनता है। (देखो जीवट्ठाण और खुद्दाबंधके ' एगजीवेण कालो ' नामके अधिकार)

राजवार्तिककारने एक शरीरका काल निम्न प्रकार कहा है।

कालतोऽन्यत्वं एकजीवं प्रति वक्ष्यामः — मिश्रक वर्जयित्वा औदारिकस्य तिर्यङ्मनुष्याणां जघन्येन अन्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि अन्तर्मुहूर्तोनानि, स चान्तर्मुहूर्तोऽपर्याप्तकालः। वैक्रियिकस्य देवान्प्रति मूल वैक्रियिकदेहस्य जघन्येन दशवर्षसहस्राणि अपर्याप्तकाला-न्तर्मुहूर्तोनानि, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अपर्याप्त-

कालान्तर्मुहूर्तोनानि । आहारकस्य कालो जघन्य उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तः ।

शरीरोके इस कालभेदसे भी प्रतीत होता है कि जीवट्ठाणादिकमें कहा गया काल भावजीवोंका है । कहीं जीवोके भावोंका और शरीरोंका समान काल होते हुए भी जीवट्ठाणादिकमें भावजीवोंका ही काल कहा गया है । शरीरोका नही कहा गया है ऐसा समझलेना अनुचित नही है ।

अन्तरके भी नामादि छह भेद हैं । उनमें से नोआगमभावोंका अन्तर यहां लिया गया है । यथा—

एत्थ केण अंतरेण पयदं ? णोआगमदो भावंतरेण । तत्थ वि अजीवभावमंतरं मोत्तूण जीवभावंतरं पयदं, अजीवभावंतरेण इह पओजणाभावा ।

अर्थात् यहां इन अन्तरोमें से कौनसा अन्तर प्रकृत है ? नोआगमसे जो भावान्तर है वह यहा प्रकृत है । उसमे भी अजीवभाव (शरीरादि) को छोड़कर जीवके गत्यादिभावोका अन्तर प्रकृत है । क्योकि शरीरादि अजीवके भावोके अन्तरसे यहां प्रयोजन नही है ।

धवलाके इन वाक्यों परसे स्पष्ट है कि अन्तरानुगममें जीवके मिथ्यात्वादि और गत्यादि भावोका अन्तर—विरहकाल कहा गया है । इतना ही नही शरीरादि अजीवभावोका अन्तर प्रयोजन न होनेके कारण निषिद्ध भी कर दिया गया है । जीवट्ठाणके इस अन्तरानुगमको और खुद्दाबंधके भी इस अनुयोगद्वारको तथा राजवार्तिकके

शरीरोंके अन्तरको सामने रख विचार कर लीजिये करकंकणको आरसी की जरूरत नही है। लेख बढ़नेके भयसे यहां उद्धरण नहीं दिये गये हैं।

भावके भी नामभाव, स्थापनाभाव, द्रव्यभाव और भावभाव ऐसे चार भेद हैं। उनमें नोआगमभावभावकी अपेक्षा इस प्रकरणमें कथन है। यथा—

एदेसु चदुसु भावेसु केण भावेण अहियारो ? णोआगमभावभावेण । तं कथं णव्वदे ? णामादिसेसभावेहि चोद्दसजीवसमासाणं अणप्पभूदेहि इह पओजणाभावा।

इसका भाव यह है कि इन नामादि चार भावोमेंसे किस भावका यहां अधिकार है ? उत्तर देते हैं नोआगमसे भावभावका यहां अधिकार है। यह कैसे जाना जाता है कि यहां नोआगम भावभावका अधिकार है ? उत्तर देते हैं कि नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन भाव चौदह जीवसमासोके आत्मभूत अर्थात् निजी भाव नही हैं। इसलिए यहांपर इन तीन भावोंसे प्रयोजन नही है। प्रयोजन सिर्फ आत्माके औदयिकादि पांच भावोसे है।

मूल भाव पांच हैं और उत्तर भाव त्रेपन हैं जिनसे गुणस्थान और मार्गणास्थान उत्पन्न होते हैं। मिथ्यात्वादि और गत्यादि त्रेपन भावोरूप आत्माकी परिणतिका नाम नोआगमभाव भाव है। इन्ही भावोंकी सत्ता संख्या पूर्वके अनुयोग द्वारोंमें कही गई है। आगेका अल्पबहुत्वभी इन्हीं भावोंमें कहा गया है।

अल्पबहुत्वके भी नामादि चारभेद हैं उनमेंसे यहां सचित्त द्रव्याल्पबहुत्व लिया गया है। यथा—

एदेसु अप्पाबहुएसु केण पयदं ? सचित्तदव्वप्पाबहुएण पयदं ।

अर्थात् इन अल्पबहुत्वोंमें से कौनसा अल्पबहुत्व प्रकृत है ? उत्तर देते हैं सचित्तद्रव्योंका अल्पबहुत्व यहां प्रकृत है।

आगममें निर्देशादि छह अनुयोग भी कहे गये हैं। उनका कथन भी इस सम्बन्धमें देखिये—

किमप्पाबहुअं ? संखाधम्मो एदं तिगुणं चदुगुणं इदि बुद्धिगेज्झो । कस्सप्पाबहुअं ? जीवदव्वस्स, धम्मिवदिरित्त-संखाधम्माणुवलंभा । केणप्पाबहुअं? पारिणामिएण भावेण। कत्थप्पाबहुअं ? जीवदव्वे । केवचिरमप्पाबहुअं ? अणादि-यपज्जवसिदं । कुदो ? सव्वेसिं गुणट्ठाणाणमेदेणेव पमाणेण सव्वकालमवट्ठाणादो । कइविहमप्पाबहुअं ? मग्गणभेयभि-ण्णगुणट्ठाणमेत्तं ।

अल्पबहुत्व क्या वस्तु है ? संख्याधर्मका नाम अल्पबहुत्व है। जो कि यह तिगुना है चौगुना है इत्यादि बुद्धिद्वारा ग्राह्य है। अल्पबहुत्व किसके होता है ? जीवद्रव्यके होता है। क्योंकि धर्मीसे जुदा धर्म नहीं होता है। किस कारणसे अल्पबहुत्व होता है ? पारिणामिक भावसे होता है। किसमें होता है ? जीवद्रव्यमें होता है। कितने कालपर्यन्त अल्पबहुत्व होता है ? अनादि अपर्यवसान तक होता है।

क्योकि सब गुणस्थानोका इसी प्रमाणसे अवस्थान सब कालोमें रहता है। कितने प्रकारका अल्पबहुत्व होता है? मार्गणाभेदोंसे विभिन्नगुणस्थानप्रमाण अल्पबहुत्व होता है।

इस प्ररूपणासे भी यह निश्चित होता है कि अल्पबहुत्व नाम का धर्म भी भावमार्गणास्थान और भाव गुणस्थान वाले जीवोंमें ही कहा गया है।

मार्गणाए भी भावमार्गणाए ही हैं यह उक्त विवेचनसे स्पष्ट है। सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वार औदयिकादिभावोंसे युक्त जीवोमें ही कहे गये हैं। शरीरो व द्रव्यवेदोसे युक्त जीवोमें नही कहे गये है। इसी आधार परसे हम कहते हैं कि जीवट्ठाणादि तीन खडोमे भावमार्गणाओंका और भाववेदोंका ही कथन है। शरीरोका यहा कथन नही है। क्योकि जीवोंको छोडकर शरीरोमें यह कथन घटित ही नहीं होता है। जो लोग जीवट्ठाणके आदिके सौ सूत्रोके कथनको द्रव्यशरीर व द्रव्यवेदकी अपेक्षासे बतलाते हैं वे दूसरोके लिए द्रव्यस्त्रियोंको मुक्ति पहुंचानेका रास्ता तैयार कर रहे हैं। शरीरोका कथन देखना हो तो राजवार्तिकको देख जाइये, उसम पाच शरीरोका चौदह अधिकारोमें कथन किया गया है। जो जीवट्ठाणादिकके कथनसे सर्वथा जुदा ही है।

तात्पर्य यह है कि सभी अनुयोगद्वार भावजीवोमें कहे गये हैं अत न. ८९-९०-९१ वें सूत्रोक्त मनुष्य और ९२-९३ वें सूत्रोक्त मनुषिणी ये भी भावरूप ही हैं। इन भावरूपोंमें ही इन सूत्रो द्वारा चौदह गुणस्थानों मे यथासभव पर्याप्तता अपर्या-

सत्ता कही गई है। अतएव भावरूप मनुषिणी की अपेक्षा नं. ९३ वें में संजदशब्द होना ही चाहिये।

सौ सूत्रों तक ही द्रव्यवेद क्यों है !

गति, इन्द्रिय, काय और योग इन चार मार्गणाओंका कथन सत्प्ररूपणाके प्रारंभके सौ सूत्रोंमें समाप्त होता है। इस सम्बन्धमें द्रव्यपक्षके प्रधान नेता कहते हैं कि "चौदह मार्गणाओंमें आदिकी चार मार्गणाएं जीवके शरीरसे ही सम्बन्ध रखती हैं। इसलिए गति, इन्द्रिय, काय और योग इन चार मार्गणाओंमें द्रव्यवेदके साथ ही गुणस्थान बताये गये हैं" (पे. १८ पं. १५) "परन्तु इससे आगे वेदमार्गणामें वेदोंमें गुणस्थान बताये हैं वहां पर द्रव्यशरीरके वर्णनका कोई कारण नही है" इत्यादि (पे. १९ पं. ८)

यह सब आगमप्रमाणके अभावमें पंक्तियोंके लेखक महोदयके मस्तिष्ककी स्वतंत्र उपज है। जबकि विग्रह गतिके जीवोंको छोड़कर शेष सभी जीवोंके शरीर पाये जाते हैं और चौदहों मार्गणाएं भी एक ही कालमें प्रत्येक संसारी जीवोंके प्रतिक्षण पाई जाती हैं। ऐसी हालतमें आदिकी चार मार्गणाओंकी तरह आगेकी वेद, कषाय आदि दश मार्गणाएं भी शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली हो जाती हैं। क्योंकि जो शरीर आदिकी चार मार्गणाओंके साथ पाया जाता है वही शरीर आगेकी वेदादि मार्गणाओंके साथ भी

पाया जाता है। ऐसा तो है ही नहीं कि आदिकी चार मार्गणा-वाले जीव तो सशरीर हों और आगेकी वेदादिमार्गणावाले जीव अशरीर हो। या आदिकी चार मार्गणावाले जीव जुदे हो और वेदादिमार्गणावाले जीव जुदे हो। इसलिए गति, इन्द्रिय, काय और योग इन चार मार्गणाओंकी तरह आगेकी मार्गणाओंमें भी द्रव्यवेदके साथ गुणस्थान बताये गये है। ऐसा कह देना अनुचित न होगा। ऐसी हालतमें नौवें गुणस्थान तकके स्त्रीवेदी जीवके भी वही द्रव्यस्त्रीवेदी शरीर सिद्ध होगा जो न ९३ वें की मनुषिणीके सिद्ध किया जा रहा है।

इस दोषसे बचनेका यही एक तरीका है कि जिसतरह वेदादिमार्गणाओ में द्रव्यशरीरके वर्णनका कोई कारण नहीं है उसी-तरह आदिकी चार मार्गणाओ में भी द्रव्यशरीरके वर्णनका कोई कारण नहीं है। और जिसप्रकार चारित्रमोहके उत्तरभेद स्त्रीवेदादिके उदयसे जायमान वेदो में कषायोके उदयसे जायमान कषायभावो में, ज्ञानावरणके क्षयोपशमादिसे जायमान ज्ञानभावोंमें गुणस्थान कहे गये हैं उसीप्रकार नरकगति आदि गतिनामकर्मके उदयसे जायमान नारकादिभावो में, एकेन्द्रियजाति आदि जातिनामकर्मके उदयसे उत्पन्न एकेन्द्रियजातिभावो में, पृथिव्यादिनामकर्मके उदयसे प्रादुर्भूत पृथिव्यादिभावोमें और योगोके क्षयोपशमसे जन्य योगभावो में गुणस्थान कहे गये हैं ऐसा मान लिया जाय।

गत्यादि जीवविपाकी नामकर्मोंके उदयसे जीव स्वयं गत्यादि भाववाले होते हैं। शरीरादि पुद्गलविपाकी नामकर्मोंके उदयसे

शरीरभाववाले नही हैं। गति आदि भाव और उनमें यथासंभव गुणस्थान विग्रहगतिमें भी होते हैं किन्तु शरीर और द्रव्यवेद विग्रगतिमें होते ही नहीं हैं फिर भी आदिकी चार मार्गणाओंमें शरीर और द्रव्यवेदके साथ ही यदि गुणस्थान कहे गये हैं तो विग्रहगतिमें उन चार मार्गणावाले जीवोंके कोई भी गुणस्थान नहीं पाये जावेंगे। क्योंकि विग्रहतिमें शरीर और द्रव्यवेद नहीं हैं। यदि विग्रहगतिमें शरीर और द्रव्यवेदके विना भी गुणस्थान कहे जाते हैं तो फिर विग्रहगतिके अलावा समयोंमें शरीर और द्रव्यवेदके विना गुणस्थान क्यों नही कहे जाते? कौन ऐसा जबर्दस्त कारण है जो इस भेदको उत्पन्न करता है। वेदादिमार्गणाओंमें और विग्रहगतिमें शरीरके विना भी गुणस्थान कहे जाते हैं सिर्फ आदिकी चार मार्गणाओंमें ही शरीरके विना गुणस्थान नही कहे जाते हैं। यह एक अनोखी बात है जिसके लिए आदिकी चार मार्गणाओंमें ही शरीर और द्रव्यवेदका ग्रन्थविरुद्ध जाल विछाया गया है।

आदिकी चार मार्गणाओंमें भी शरीर नही कहे गये हैं। इस सम्बन्धमें एक उद्धरण यहां दे देना आवश्यक प्रतीत होता है। अधिक उद्धरणोंके देनेसे लेखका कलेवर बढ़ता है। बाकी ऐसे उद्धरण धवलामें अनेक भरे पड़े हैं। देखिये—

एत्थ पुढवी काओ सरीरं जेसिं ते पुढवीकायात्ति ण वत्तव्वं, विग्गहगईए वट्टमाणाणं जीवाणमकायत्तप्पसंगादो। पुणो कधं वुच्चदे? पुढविकाइयणामकम्मोदयवंतो जीवा पुढविकाइया त्ति वुच्चंति। —द्रव्यप्रमाणानुगम. पे. ३३०

अर्थात् यहांपर जिनके पृथिवी काय अर्थात् शरीर होता है वे पृथिवीकाय होते हैं ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि ऐसा कहनेसे विग्रहगतिमें वर्तमान जीवोंके अकायत्व अर्थात् पृथिवीकायत्वके अभावका प्रसंग आता है। तो फिर कैसा कहना चाहिए? उत्तर देते हैं पृथिवीकायिक नामकर्मके उदयवाले जीवोंको पृथिवीकायिक जीव कहते हैं– ऐसा कहना चाहिए। 'एवं सेस-कायाणं पि वत्तव्वं'। इसप्रकार शेष जलकायिकादि जीवोंके बारे में भी कहना चाहिए।

इस शंका और समाधानसे स्पष्ट है कि पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पतिकाय इनसे और उनके भेद–प्रभेदोंसे शरीर नहीं लिए गये हैं किन्तु उस उस नामकर्मके उदयसे पृथिव्यादिनामोंको धारण करने वाले पृथिव्यादिजीव ही लिये गये हैं। शरीरके लिये जानेमें ग्रन्थकारने स्वयं दोषापादन भी कर दिया है कि कायशब्दसे शरीर ग्रहण किया जायगा तो विग्रहगतिके जीव अकाय कहे जावेंगे।

ऐसा ही गति और इन्द्रियोंके विषयमें भी समझना चाहिए। क्योंकि शरीरोंके न होते हुए भी विग्रहगतिके जीव नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव होते हैं। तथा विग्रहगतिमें स्पर्शनादि द्रव्येन्द्रियोंके न होते हुए एकेन्द्रियजीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियजीव द्वीन्द्रिय आदि होते हैं। शरीरसे यदि नारकी आदि और एकेन्द्रिय आदि माने जावेंगे तो विग्रहगतिमें नारक आदि जीवोंके और एकेन्द्रिय आदि जीवोंके अभावका प्रसंग आवेगा। क्योंकि इन सबके विग्रहगतिमें शरीर नहीं हैं और न द्रव्येन्द्रियां ही हैं।

इसी हालतमें ' आदिकी चार मार्गणाएं मुख्यरीतिसे शरीर और द्रव्यवेदका ही विवेचन करनेवाली हैं ' इस प्रतिज्ञाका खण्डन होजाता है। योगमार्गणा भी शरीरका विवेचक नहीं है यह हम पहले कह आये हैं। आगे भी प्रकरण पाकर इस विषयका और भी स्पष्टीकरण करेंगे।

तात्पर्य यह है कि शरीर और द्रव्यवेद आदिकी चार मार्गणाओंमें कहे ही नहीं गये हैं। कहे गये हैं तो वे ही शरीर और द्रव्यवेद आगेकी मार्गणावालोंके भी हैं। इसलिए उनका सम्बन्ध आगे भी पहुंचता है। यह केवल परोक्तिमें दोषापादन है, वस्तुतस्त्वा किसी भी मार्गणाके होनेमें शरीर और द्रव्यवेद कहे ही नहीं गये हैं क्योंकि शरीर और द्रव्यवेदमें न गुणस्थान कहे गये हैं और न ही उनकी संख्या, स्वामी आदि कहे गये हैं। और न ही ये चौदह मार्गणाओंके होनेमें साधकतम कारण हैं। अतएव मार्गणा प्रकरणमें शरीर और द्रव्यवेद अप्रयोजनीभूत हैं।

सौ सूत्रोक्तजीवोंमें भाववेद क्यों नहीं !

समन्वयके लेखक साभिमान कहते हैं कि "इन सूत्रोंमें भाववेदकी गन्धभी नहीं है" (पेज २५ पं. १६) सौ सूत्रोंद्वारा भाववेद नहीं कहा गया इतना मात्र ठीक हो सकता है परन्तु सौ सूत्रोक्तजीवोंमें सत्प्ररूपणामें भाववेद की गन्ध नहीं है ऐसा तो है नहीं, जब कि भाववेदका प्रतिपादन करनेवाली पांचवी वेदमार्गणा

है। वह सौ सूत्रोक्त जीवोंमें और गुणस्थानोंमें भाववेदका विधान करती है और भाववेदके भेद भी प्रतिपादन करती है। वेदमार्गणाके सूत्र नं. १०१ से ११० तकके दश सूत्रोंद्वारा चारों गतिके जीवोंमें, पांचों इन्द्रियजातियोमें और छहों कायजातियोंमें भाववेद कहा गया है। ये वे ही जीव हैं जो गतिमार्गणामें गतिके रूपसे, इन्द्रियमार्गणामें इन्द्रियजातिके रूपसे और कायमार्गणामें कायजातिके अनुरूपसे कहे गये हैं। सौ सूत्रोक्त जीवोमें ही इन दश सूत्रों द्वारा भाववेद कहा गया है। इस तरह सौ सूत्रवाले जीवोमें द्रव्यवेद कहा गया हो तो बतावें।

वस्तुवृत्या देखा जाय तो सौ सूत्रोंद्वारा ही नही, समूचे जीवट्ठाण द्वारा भी अपने शब्दोंमें द्रव्यवेद कहा गया हो तो उसकी स्पष्ट विधि बताई जावे। इन सौ सूत्रोंमें भाववेदकी गन्ध नही है, न सही, जब कि सौसूत्रान्तर्गत चारों मार्गणाओ वाले और पर्याप्त—अपर्याप्त सभी जीवोंमें भाववेद प्रतिक्षण यहां तक कि विग्रहगतिके समयोंमें भी ओत-प्रोत भरा पड़ा है। जब भाववेद खुद ही उन जीवोंकी नस नसमें भरा पड़ा है तब उसकी गन्धकी आवश्यकता ही कौनसी अवशिष्ट रह जाती है।

वस्तुतः सौ सूत्रोंमें ही नहीं, समूचे जीवट्ठाणमें खुद्दाबंधमें और बंधसामित्तविचयमे भी द्रव्यवेदकी गन्ध हो तो बतावें। किन जीवोंमें कौनसा द्रव्यवेद होता है, कौन कौनसे गुणस्थान पर्यन्त कौन कौनसा द्रव्यवेद होता है और द्रव्यवेदोंकी संख्या, क्षेत्र, स्पर्श, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व ये सब किस किस प्रकार

होते हैं ये सब बातें कोई सप्रमाण बता तो दें। बादर-सूक्ष्म और पर्याप्त-अपर्याप्त सभी एकेन्द्रियजीवोंके द्रव्यवेद है ही नहीं, विग्रहगतिके जीवोंके भी द्रव्यवेद नहीं है। यह सब जीवराशि अनन्तानन्त है। जो सर्वथा द्रव्यवेदसे विरहित है। जो द्रव्यवेद किसी भी सूत्रद्वारा कहा ही नहीं गया है उसकी विधि कहना और जो भाववेद सूत्रोंद्वारा कहा गया है उसकी गन्ध भी न बताना यह कथन शास्त्र मार्गकी सुरक्षा करता है या उसकी काट छांट करता है। थोड़ा मस्तिष्क लगाकर विचार करनेकी जरूरत है।

जब जो मार्गणा कही जाती है तब उसी मार्गणाका प्राधान्य होता है अतः उसी अपेक्षासे वह कथन हुआ करता है शेष मार्गणाका कथन उस समय गौण हो जाता है। क्योंकि अपने अपने प्रकरणमें अपनी अपनी प्रधानता हुआ करती है। उस वक्त शेषमार्गणाओंका अभाव नहीं हो जाता है। वे सिर्फ उस समय गौण रहती हैं। ये सब मार्गणाएं भावरूप हैं। इन्हीं भावरूपमार्गणाओंका सत्प्ररूपणामें सत्त्व व भेद और इन्हींमें गुणस्थानोंका सत्त्व कहा गया है। द्रव्यपरिमाणादिकमें इन्हीं भावमार्गणावाले जीवोंका गुणस्थानोंमें द्रव्यपरिमाण, क्षेत्र, स्पर्श आदि कहे गये हैं। एवं सारे जीवट्ठाणमें भाववेद अपना आसन जमाये हुए अड़े खड़े हैं। अतः आदिकी चार मार्गणाओंमें भाववेदकी गन्ध नहीं है यह कथन अनालोचित है।

विग्रहगतिके जीवोंको छोड़कर शेष सब जीवोंके शरीर भी होते हैं तथा एकेन्द्रियोंको छोड़कर शेष सब जीवोंके द्रव्यवेद

भी होते हैं परन्तु वे शरीर और द्रव्यवेद यहां जीवट्ठाणमें विधिरूपसे कहे ही नहीं हैं और न ही इनमें द्रव्यपरिमाणादि अनुयोग कहे गये हैं। अतः अनुयोगद्वारोके कथनका द्रव्यशरीर और द्रव्य-वेदोसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

वेदादिमार्गणाओंमें भी पर्याप्तता अपर्याप्तता है

क्रमवर्णनमें कहा जा चुका है कि सूत्र ४७ से ६९ तक के २३ सूत्रोमें योगोके भेद–प्रभेदोंका अस्तित्व और उनमें गुणस्था-नोका अस्तित्व कहा गया है। योगमार्गणासे पूर्वकी गतिमार्गणा, इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणा ये सब ऐसी हैं जो पर्याप्तजीवोमें भी पाई जाती है और अपर्याप्तजीवोमे भी पाई जाती हैं। योग एक ऐसी चीज हैं जो कोई पर्याप्त अवस्थामें ही पाये जाते हैं। और कोई अपर्याप्त अवस्थामें ही पाये जाते हैं। जैसे मनोयोग और वचनयोग पर्याप्तजीवोमें ही पाये जाते हैं और काययोग कोई पर्याप्तजीवोमे ही पाये जाते हैं और कोई अपर्याप्तजीवोंमें ही पाये जाते हैं। योगोमें आदिकी तीनमार्गणाओसे यह एक विशेषता पाई जाती है।

प्रारंभमें ही यदि गतिमार्गणामें पर्याप्तता–अपर्याप्तता कह दी जाती तो आगेकी मार्गणाओमें भी उनका कथन करना पड़ता।

अतः मध्यदीपक न्यायसे योगमार्गणामें पर्याप्तता–अपर्याप्तताका वर्णन करना पड़ा। क्योंकि योगोंके साथ तो यह विषय जुदा कहना ही पड़ता। इस कारण पूर्वमें न कह कर सुलभताके लिए योगप्रकरणमें ही पर्याप्तियोंका और अपर्याप्तियोंका कथन किया गया।

धवलाकार कहते हैं— एवं योगनिरूपणावसरे एव चतसृषु गतिषु पर्याप्तापर्याप्तकालविशिष्टासु सकलगुणस्थानानामभिहितमस्तित्वं। शेषमार्गणासु अयमर्थः किमिति नाभिधीयते? इति चेत्? नोच्यते, अनेनैव गतार्थत्वात् गतिचतुष्टयव्यतिरिक्तमार्गणाभावात्।

अर्थात् इसप्रकार योगोंके निरूपणके अवसरमें ही पर्याप्तकाल और अपर्याप्तकालसे विशिष्ट चारों गतियोंमें गुणस्थानोंका अस्तित्व कहा गया। शेषमार्गणाओंमें यह विषय क्यों नहीं कहते? उत्तर देते हैं,— नहीं कहते, क्यों, इससे ही गतार्थ हो जाता है, क्योंकि चारों गतियोंसे व्यतिरिक्त अर्थात् जुदी कोई मार्गणा नहीं है।

इसका मतलब यह है कि गतिमार्गणा सबसे पहले है, उसका सम्बन्ध सभी मार्गणाओंके साथ है। जिस जीवके एक गतिमार्गणा है उसके शेष सभी मार्गणाएं पाई जाती हैं, इसलिए गतियोंके कथन परसे ही सभी मार्गणाओंमें पर्याप्त-अपर्याप्त विषय जाननेमें आजाता है। अतः आगेकी मार्गणाओंमे पर्याप्त–अपर्याप्त व्यवहार न हो यह बात सर्वथा नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान तककी मार्गणाओंका सम्बन्ध देव और नारकियोंके साथ है। देव

और नारकियोंमें चौदह मार्गणा हैं ही। पाचवें गुणस्थान तककी मार्गणाओंका सम्बन्ध तिर्यंच और मनुष्योंके साथ है, सामान्यत चौदह मार्गणाए इनमें भी पाई जाती हैं। पचम गुणस्थानसे ऊपर छट्ठेसे लेकर सब मार्गणाओंका सम्बन्ध मनुष्योंके साथ ही है। इनके भी सभी मार्गणाए पाई जाती हैं। अत चारो गतियोंके जीवोंकी पर्याप्तता–अपर्याप्तताका सम्बन्ध सभी मार्गणाओंमें पहुच जाता है। यदि ऐसा न हो तो–ज्ञानमार्गणामें कहा है कि 'विभंगणाण सण्णिमिच्छाइट्ठीण वा सासणसम्माइट्ठीणं वा'। अर्थात् विभगज्ञान सज्ञिमिथ्यादृष्टियोंके और सासादनसम्यग्दृष्टियोंके होता है। विभगज्ञान भवप्रत्यय भी होता है इसलिए पर्याप्त–अपर्याप्त अवस्थामें भी उसका सत्त्व हो सकता है? इस शिष्याशकाके निराकरणार्थ सूत्र कहते हैं कि विभगज्ञान पर्याप्त जीवोंके होता है अपर्याप्त जीवोंके नहीं होता है। विभगज्ञाने भवप्रत्यये सति पर्याप्तापर्याप्तावस्थयोरपि तत्सत्त्वं स्यादित्याशंकितशिष्याशकापोहनार्थमाह— पज्जत्ताण अत्थि अपज्जत्ताण णत्थि—पर्याप्त अवस्थामें विभगज्ञानका सद्भाव और अपर्याप्त अवस्थामें असद्भाव कैसे कहा जा सकता है। सूत्र और अवतरणिका दोनोंसे ही ज्ञानोंके साथ पर्याप्तता–अपर्याप्तका सम्बन्ध जाना जाता है। देव–नारकी जिनके कि विभगज्ञान भवप्रत्यय होता है उनके भी अपर्याप्त कालमें विभगज्ञान नहीं होता है किन्तु पर्याप्त कालमें ही होता है। मन पर्यय पर्याप्तअवस्थामें ही होता है, विशेष अवस्थाको छोड़कर सब सयम पर्याप्त अव-

स्थामें ही होते हैं। उपयोगात्मक शेष ज्ञान-दर्शन पर्याप्त अवस्थामें ही होते हैं, क्षयोपशमात्मक दोनों अवस्थाओंमें होते हैं। सभी सम्यग्दर्शन दोनों अवस्थाओंमें होते हैं, किसी किसीके कोई सम्यक्त्व पर्याप्त-अवस्थामें ही होते हैं। सामान्यत. ये जीव गति-चतुष्टयसे बाहरके नहीं हैं। अत. गतियां सब मार्गणाओंमें प्रतिक्षण व्याप्त हैं इसलिए कह दिया गया कि गतियोंके पर्याप्त-अपर्याप्त कथनसे ही शेष सब मार्गणाओंमें पर्याप्त-अपर्याप्तपनेका बोध हो जाता है। गतियोंका जैसा सम्बन्ध सब मार्गणाओंके साथ है वैसा सम्बन्ध और और मार्गणाओंका प्राय नहीं है, इसलिए कह दिया गया कि और मार्गणाए गतियोंसे व्यतिरिक्त अर्थात् जुदी नही हैं इसका अर्थ यह नहीं है कि गतियोंके सिवा कोई मार्गणाएं ही नही है और उनमें पर्याप्तता-अपर्याप्तताका व्यवहार ही नहीं है।

" आगेकी वेदकषायादिमार्गणाओंमें पर्याप्तियों और अपर्याप्तियोंके सम्बन्धसे गुणस्थानोंका विवेचन नहीं किया है। अतएव उन वेदादिमार्गणाओंमें द्रव्यवेदका वर्णन नही है किन्तु भाववेदकाही वर्णन है और भाववेदका कथन होनेसे उन मार्गणाओंमें भाववेदकी विवक्षासे चौदह गुणस्थान बताये गये हैं इत्यादि "। (पेज. ८७)

आगेकी वेदकषायादिमार्गणाओंमें पर्याप्तियों और अपर्याप्तियोंके सम्बन्धसे गुणस्थानोंका विवेचन नहीं किया। यह लिखना सर्वथा गलत है। जब कि स्त्रीवेदके उदयवाले जीव प्रथम द्वितीयमें पर्याप्त-अपर्याप्त और तीसरेसे नौवें तक पर्याप्त, पुरुषवेदका उद-

यवाला और घम्मापृथिवीकी अपेक्षा नपुंसकवेदवाला प्रथम, द्वितीय और चतुर्थमें पर्याप्त–अपर्याप्त और तृतीय, पंचमसे नौवें तक पर्याप्त तथा पुरुषवेदी छट्ठेमें आहारककी अपेक्षा पर्याप्त–अपर्याप्त होता है इस प्रकार वेदोंमें भी पर्याप्तियो अपर्याप्तियोंके सम्बन्धसे गुणस्थानोंका विवेचन होता है, जो पं. मक्खनलालजीकी नजरसे ओझल है। कषायोंका उदयवाला जीव भी प्रथम द्वितीय चतुर्थ और षष्ठमें पर्याप्त-अपर्याप्त शेष स्वसंभवगुणस्थानोंमें पर्याप्त ही होता। इसीप्रकार आगेकी सभी मार्गणाओंमें पर्याप्तता और अपर्याप्तताका मय उनके गुणस्थानोंके विवेचन पाया जाता है। इस प्रकार पर्याप्तता–अपर्याप्तताके होते हुए भी वेदादिमार्गणाओमें द्रव्य शरीरका वर्णन नही है, यह तो बड़ी खुशीकी बात है, यही तो हम कहते हैं कि आदिकी चार मार्गणाओमें भी पर्याप्तता–अपर्याप्तताके होते हुए भी द्रव्यशरीरका वर्णन नही है किन्तु सूत्र नं. १०१ से ११० तकके सूत्रोद्वारा कथित भाववेदका वर्णन उनमें है। इसीलिए नं. ९३ सूत्रमें भावस्त्रीकी विवक्षासे ' संजद ' पद दिया गया है।

अत पं. मक्खनलालजी की ये पंक्तियां इस प्रकार कही जा सकती हैं कि आगे की वेदकषायादिमार्गणाओमें भी ' अनेनैव गतार्थत्वात् ' इस हेतु पदके अनुसार पर्याप्तियो और अपर्याप्तियोके सम्बन्धसे गुणस्थानोका विवेचन गतार्थ हो जाता है। अत एव जिस तरह उन वेदादिमार्गणाओमें द्रव्यशरीर का वर्णन नही है किन्तु भाववेदका ही वर्णन है उसी तरह आदि की चारमार्गणाओमें भी

पर्याप्तता—अपर्याप्तता होते हुए भी द्रव्यशरीर का वर्णन नहीं है किन्तु भाववेदका ही वर्णन है और भाववेदका कथन होनेसे उन आदिकी चारमार्गणाओं में भी भावस्त्रीकी अपेक्षासे चौदह गुणस्थान बताये हैं। इस लिए भावस्त्रीकी अपेक्षा नं. ९३ वें सूत्रमेंभी संजदपद का होना अनिवार्य है।

" आगेकी वेदकषायादिमार्गणाओं में पर्याप्तिओं और अपर्याप्तियोंके सम्बन्धसे गुणस्थानोंका विवेचन नहीं है " यह आगमविरुद्ध फतवा है। जब कि सूत्रकार स्वंय आगेकी सब मार्गणाओं में पर्याप्तियों और अपर्याप्तियोंका विवेचन कर रहे हैं और धवलाकारभी सब मार्गणाओ मे बीस प्ररूपणाओंका प्ररूपण करते हुए उनमें गुणस्थानोंका और संभव पर्याप्तियों और अपर्याप्तियोंका विवेचन कर रहे हैं। तथा यह भी कह रहे हैं की गतियों में कही गई पर्याप्तता और अपर्याप्तता परसे ही सभी मार्गणाओं में पर्याप्तियों और अपर्याप्तियोंका कथन गतार्थ हो जाता है। आगे पर्याप्तता और अपर्याप्तता है ही नहीं तो फिर गतार्थ हो कौन जाता है! अतः आगेकी मार्गणाओंका कथन भी पर्याप्तियों और अपर्याप्तियोंके कथनसे विरहित नहीं है।

योगोंपरसे द्रव्यशरीर सिद्ध नहीं होता।

धवलाकारने द्रव्यमन और भावमनके विवेचनसे यह स्पष्ट कर दिया है कि यह सब कथन द्रव्य शरीरका है (पे. २७)। यह बात भी समन्वयके लेखक कहते हैं।

धवला एक टीका है, टीकामें उक्त-अनुक्त सभी विषयोंका प्रसंगवश विवेचन किया जाता है। इस विवेचनसे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि वह सब सीधा कथन षट्खंडागमकारका ही है। फिर धवलाकारने यह भी तो नहीं कहा कि यह सब विवेचन द्रव्य शरीरका है। धवलाकार तो यह कहते हैं कि 'योगद्वारेण जीवद्रव्यप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह' अर्थात् योगोंके द्वारा जीव द्रव्यका प्रतिपादन करनेके लिए आचार्य पुष्पदन्त आगेका सूत्र कहते हैं। इससे यह निश्चित है कि आचार्य पुष्पदन्त भट्टारकने योगोंके द्वारा जीव द्रव्यका ही प्रतिपादन किया है, न कि शरीरोंका। सूत्रमें भी प्रातःस्मरणीय पुष्पदन्त भट्टारक स्वय प्रतिज्ञा करते हैं कि 'जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी वचिजोगी कायजोगी चेदि' योगोंकी अपेक्षासे जीवोंका प्रतिपादन किया जाता है कि जीव मनयोगवाले, वचनयोगवाले और काययोगवाले इसप्रकार तीन प्रकारके होते हैं। आचार्यकी प्रतिज्ञा खास योगवाले जीवोंके कहनेकी है। तदनुसार योगवाले जीव ही उनमें कहे हैं। मनो-योगके द्वारा द्रव्यमन नहीं कहा है। क्योंकि द्रव्यमन चौदहवें गुणस्थान तक होता है किन्तु मनोयोगका होना स्वयं आचार्यने तेरहवें गुणस्थान तक ही कहा है। शरीर भी चौदहवें तक होता है परन्तु काययोगका होना तेरहवें तक ही कहा है। कुछ योगोंका जघन्य काल एक समयमात्र है और उत्कृष्ट काल जिनके कि दो या तीन योग होते हैं अन्तर्मुहूर्तका ही कहा है जो शरीरोंमें किसी तरह भी सभवित नहीं है चौदहवें गुणस्थानवर्ती योगियोंके

शरीर तो होता है परन्तु योग कोई सा भी नहीं होता है। अतएव शरीरके होते हुए भी चौदहवें गुणस्थानवर्ती भगवान् अयोगी होते हैं, अशरीरी वे नही होते हैं। सख्या क्षेत्र स्पर्श आदि भी योगो में ही जहा तक उनकी सत्ता है वही तक कहे गये हैं। योगोकी सख्या आदि और शरीरोंकी सख्या आदि और दोनोंके गुणस्थानो में सत्त्व ये सब भिन्न भिन्न रीत्या ग्रन्थोंमें वर्णित हैं। इससे निश्चित होता है कि षट्खडागमकारने योगोकी अपेक्षा जीवोंका ही विवेचन किया है। शरीरोका विवेचन यहा जीवट्ठाणादि आदिके तीन खडो में नही किया है। शरीर जीवके भाव नहीं हैं यह कहा जा चुका है। योग जीवके भाव हैं यह जीवट्ठाणके आठों अनुयोगोसे और खुद्दाबंधके बारह अनुयोगद्वारोसे सुनिश्चित है। कहनेका मतलब यह है कि पूज्यपाद आचार्योंने योगमार्गणाके द्वारा योग-युक्त जीवोका या मन, वचन और काय इन तीन योगोंको कहा है। शरीरोको नही कहा है।

धवलाकारने द्रव्यमन और भावमन का कैसा विवेचन किया है वह भी ध्यान देने योग्य है। इससे स्वय समझमें आ जयगा कि दर असलमें योगोके इस विवेचनसे योग कहे गये हैं या शरीर।

धवलाकारने ' मनके द्वारा जो योग होता है उसे मनोयोग कहते हैं ' ऐसा मनोयोग का स्वरूप कहा है। इस परसे शका उठाई गई है कि यदि ऐसा है तो द्रव्यमनसे सम्बन्ध होनेको मनोयोग नही कह सकते, क्योंकि द्रव्यमनसे सम्बन्ध होनेको मनोयोग मान लेने पर मनोयोगकी कुछ कम तेतीस सागर प्रमाण कालकी स्थितिका प्रसंग आता है।

इस शंकामें शंकाकारने द्रव्यमन से सम्बन्ध होनेको मनोयोग मान लेनेमें आपत्ति उपस्थितकी है। क्योंकि द्रव्यमनका उत्कृष्ट काल देव और नारकियोंमें तेतीस सागर प्रमाण है परन्तु मनोयोगका काल जियादह से जियादह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इस आपत्ति परसे द्रव्यमन और मनोयोग जुदे जुदे हैं कमसे कम यह निश्चित हो जाता है। धवलाकारने भी इस आपत्तिको स्वीकार करलिया है। अत स्वयं धवलाकार द्रव्यमनसे सम्बन्ध होनेको मनोयोग नहीं मानते हैं।

शंकाकारकी दूसरी शंका है ' क्रिया सहित अवस्थाको भी योग नहीं कह सकते, क्योंकि क्रिया सहित अवस्थाको योग मान लेने पर योगका रात-दिन प्रमाण कालका प्रसंग आता है, शंकाकारकी इस आपत्तिको भी आचार्यने स्वीकार करलिया है। क्योंकि रात दिन प्रमाण योगोका काल आचार्यको इष्ट नहीं है।

शंकाकारकी तीसरी शंका यह है कि ' भावमनके साथ सम्बन्ध होनेको भी मनोयोग नहीं कह सकते। क्योंकि भावमन ज्ञानरूप है इसलिए उसका उपयोगमें अन्तर्भाव है। इस आपत्तिको भी आचार्यने स्वीकार कर लिया है।

इसलिए वे कहते हैं कि ' इस प्रकार तीनो विकल्पो द्वारा कहे गये दोष यहां प्राप्त नहीं होते हैं। क्योंकि हमने तीनो ही विकल्पोको स्वीकार नहीं किया है। अर्थात् आचार्यने उत्तरमें कह दिया कि द्रव्यमनसे सम्बन्ध होनेको मनोयोग, क्रिया सहित अवस्थाको मनोयोग, भावमनके साथ सम्बन्ध होनेको मनोयोग

हम नहीं मानते हैं ऐसा मान लेने पर ये आपत्तियां आसकती हैं । तद्यथा —

मनसा योगो मनोयोगः । अथ स्यात्; न द्रव्यमनसा सम्बन्धो मनोयोगः, मनोयोगस्य देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमकालस्थितिप्रसंगात् । न सक्रियावस्थो योगः, योगस्याहोरात्रमात्रकालप्रसंगात् । न भावमनसा सम्बन्धो मनोयोगः, तस्य ज्ञानरूपत्वतः उपयोगान्तर्भावात् इति ? न त्रितयविकल्पोक्तदोषः, तेषामनभ्युपगमात् । कः पुनः मनोयोग इति चेत् ? भावमनसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो मनोयोगः, तथा वचसः समुत्पत्त्यर्थः, प्रयत्नो वाग्योगः कायक्रियासमुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नः काययोगः । — धवल पे. २७८ ।

अत निश्चित है कि भावमनकी, वचनकी और कायक्रियाकी समुत्पत्तिके लिए जो प्रयत्न विशेष है उस प्रयत्न विशेषको क्रमश: यहांपर मनोयोग, वचनयोग और काययोग कहा गया है । न कि द्रव्यमन, द्रव्यवचन और द्रव्य शरीरोको यहांपर मनोयोग, वचनयोग और काययोग कहा गया है ।

कहते हैं कि वह योग जिस जीवके या जिस जीवमें होता है इसप्रकार इन् प्रत्यय करदेने पर जीव मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी सिद्ध होता है । यथा —

' तदस्यास्त्यास्मिन् ' इति इनि सति सिद्धं मनोयोगी, वाग्योगी काययोगीति ।

षट्खंडागमकार तीनों योगियों की उत्पत्ति इस प्रकार कहते है कि योगके अनुवादसे मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी कैसे होते हैं ? उत्तर देते हैं क्षायोपशमिकलब्धिसे जीव मनोयोगी, वाग्योगी और काययोगी होते हैं। यथा—

जोगाणुवादेण मणजोगी वचिजोगी कायजोगी णाम कथं भवदि ? खओवसमियाए लद्धीए। —खुद्दाबंध।

योगियोंकी इस उत्पत्तिसे भी ज्ञात होता है कि मनोयोगी वचनयोगी और काययोगी जीवही कहे गये हैं न कि शरीर और द्रव्यवेदजी। क्योंकि शरीर और द्रव्यवेद क्षयोमशमलब्धिसे नहीं होते हैं। जो कि क्षयोपशमलब्धि मतिज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशम रूप है। उमसे ये योग होते हैं। शरीर शरीरनामकर्मके उदयसे होते हैं और द्रव्य वेद अंगोपाङ्गनामकर्मके उदयसे होते हैं। शरीरोमें और योगोमें लक्षणभेदसे भेद सिद्ध है। 'परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणं। अर्थात् शरीरो और योगोंके परस्परमें मिले हुए रहने परभी जिसके द्वार दोनोमें भिन्नता देखी जाय वह लक्षण है। शरीरोके और योगोके लक्षणमे भिन्नता है, भेद जुदे जुदे हैं, गुणस्थान जुदे जुदे हैं, संख्या, क्षेत्रादि जुदे जुदे हैं। अत योग और शरीर कथंचित् जुदे जुदे हैं। योगमार्गणामें योग ही कहे गये हैं। द्रव्यशरीर उन योगियोंके होते हैं जो यहां मार्गणाओंमें कहे नहीं गये हैं। अत योगमार्गणा भी शरीरोका प्रतिपादन करनेवाली नहीं है। जब कि योगमार्गणा द्रव्यशरीरोका ही प्रतिपादन नही करती है तब द्रव्यवेदोका प्रतिपादन तो करेगी

ही कैसे ! फिर किनके कौनसा द्रव्यवेद होता है यह और भी जटिल विषय आ उपस्थित होता है । शरीर और द्रव्यवेदके होते हुए भी जब तक ग्रन्थकार उसका वर्णन नहीं करेंगे तब तक उसका वर्णन किया गया है—यह नहीं माना जा सकता । अन्यथा भलता ही वर्णन मान लेनेमें भी कोई आपत्ति न होगी ।

शरीरोंका और योगोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए योगोंके साथ शरीरोंके नाम भी आजाते हैं । शरीरोंके नाम आते ही प मक्खनलालजीके युधिष्ठिरके दायें बायें दोनो भाई खड़े हो जाते हैं । अत चटसे उनके मुखसे द्रव्यवेद और द्रव्यशरीर निकल ही पडते हैं । खैर, यह बात सुनिश्चित है कि योगमार्गणाके कथनसे और उसमें आगत पर्याप्तियोंके कथनसे न ९३ वें सूत्रमें आगत मनुषिणीके द्रव्यवेद द्रव्यस्त्रीवेद ही है इसके सिद्ध करनेका उपाय प मक्खनलालजी के पास नही है । क्योकि आगमान्तरोके अनुसार मनुषिणीके द्रव्यवेद पुरुषवेद और नपुसकवेद भी होता है । षट्खंडागमके आद्य पाच खंडोके अनुसार तो यहा पर द्रव्यवेदका नाम ही नहीं लेना चाहिये । क्योंकि इनमें द्रव्यके विषयका कोई कथन ही नही है ।

प्रारंभके सौ सूत्र द्रव्यशरीरके प्रतिपादक नहीं हैं ।

समन्वयके लेखक प. मक्खनलालजी लिखते हैं कि यद्यपि सभी सूत्र योगमार्गणा तक द्रव्यशरीरके ही प्रतिपादक हैं ।—

(मि. २४ पं. ९)। योगमार्गणा तकके सब सूत्रोंका आशय हम क्रमवर्णनमें दे चुके हैं। उनमें यह नहीं कहा गया है कि ये सूत्र द्रव्य शरीरके प्रतिपादक हैं। गदियाणुवादेण, इंदियाणुवादेण कायाणुवादेण, योगाणुवादेण इत्यादि पद उन सूत्रों में आये हुए हैं, जिनका अर्थ होता है गतियोंकी अपेक्षासे जीवोंका कथन किया जाता है, इन्द्रियोंकी अपेक्षा जीवोंका वर्णन किया जाता है, कायोंकी अपेक्षासे जीवोंका वर्णन किया जाता है और योगोंकी अपेक्षा जीवोंका प्रतिपादन किया जाता है। सूत्रों पर अवतरणिकाएं भी इसीप्रकारकी दी गई हैं। जैसे कि—

साम्प्रतं मार्गणैकदेशगतेरस्तित्वमभिधाय तत्र जीवसमासान्वेषणाय सूत्रमाह, एकेन्द्रियाणां भेदमभिधाय साम्प्रतं द्वीन्द्रियादीनां भेदमभिधातुकामः उत्तरसूत्रमाह, पुढविकायादीण भेदपदुप्पायणट्ठमुत्तरसुत्तं भणइ, त्रसजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह, बादरजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह, योगद्वारेण जीवद्रव्यप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह, इत्यादि।

इन अवतरणिकाओंसे भी विदित होता है कि सूत्रों में मुख्यतया गत्यादि विशिष्ट जीवोंका ही प्रतिपादन किया गया है। न कि शरीरोंका। शरीर आगममें पांच कहे गये हैं औदारिक, वैक्रियिक, आहारक तैजस और कार्मण। द्रव्यवेद भी आगममें तीन कहे गये हैं स्त्री, पुरुष और नपुंसक। पहले किसी सूत्र द्वारा ये नाम बताना चाहिए या इनका अस्तित्व बताना चाहिए। फिर कहना चाहिए-कि एकेन्द्रिय, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त तथा द्वीन्द्रि

यादि पर्याप्त और अपर्याप्त ये सब शरीर के वाचक हैं। या इन भेदोंके प्रतिपादक सूत्रों द्वारा शरीर कहे गये हैं। शरीरों की विधि या अस्तित्व बताये बिना इन सूत्रो द्वारा शरीर कहे गये हैं यह कहना वन्ध्यासुत—सौभाग्य का व्यावर्णन है।

सूत्रकार निम्न सूत्रद्वारा चौदह जीवसमासोंके अन्वेषणार्थ चौदह ही जीवस्थानोंके कहनेकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं। यथा—

एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव ट्ठाणाणि णायव्वाणि भवंति ॥ २ ॥

इस सूत्रमें जीवसमासपद है उसका अर्थ टीकाकार लिखते हैं कि. **जीवा समस्यन्ते एष्विति जीवसमासाः** । अर्थात् जीवोंका जिनमें संग्रह किया जाय उनको जीव—समास कहते हैं। इस सूत्रमें आगत मार्गणापदका अर्थ लिखते हैं कि सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्श आदिसे विशिष्ट चौदह जीवसमास जिसमें या जिसके द्वारा खोज किये जाते हैं उसे मार्गणा कहते हैं। यथा— **चतुर्दश जीवसमासाः सदादिविशिष्टा मार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेति मार्गणम्** । इस वाक्यसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सत् संख्या आदि आठ अनुयोग भी जीवोंके ही प्रतिपादक हैं। इस 'एत्तो इमेसि' सूत्रके आगे 'तं जहा' सूत्रके द्वारा आचार्यसे पूछा गया कि वे चौदह मार्गणास्थान कौनसे हैं। इस परसे आचार्यने उनके नाम निम्न प्रकार बताये हैं—

गइ इंदिए काये जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि ॥ ४ ॥

इस सूत्रका अर्थ स्पष्ट है। मार्गणाओंके चौदह नाम इसमें कहे गये हैं। उक्त कथनसे स्पष्ट है कि इन चौदह मार्गणाओंमें पूज्य आचार्यने प्रतिज्ञानुसार जीवोंका ही प्रतिपादन किया है। या अन्वेषण किया है, न कि शरीरो और द्रव्यवेदोंका। सूत्रकार आचार्य दूसरी व्यापक प्रतिज्ञा करते हैं कि—

एदेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठअणियोगद्दाराणि णायव्वाणि भवंति। तंजहा। संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि। ५–६–७।

इन सूत्रोंके द्वारा भी आचार्यने जीवसमासोंके प्ररूपणके लिए आठ अनुयोगों के कहने की प्रतिज्ञा करते हुए आठ अनुयोगद्वारोंके नाम कहे हैं। इससे भी निश्चित है कि ग्रन्थकारका मुख्य लक्ष्य जीवोंके भेद–प्रभेद और भावोंके प्रतिपादन की ओर है। शरीरोके प्रतिपादनकी ओर नहीं।

आगमकी निम्न दो गाथाएं भी उक्त विषयका ही अनुसरण करती हैं —

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति ॥ १ ॥
गइ इंदिए च काए जोगे वेदे कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥ २ ॥

पहली गाथामें कहा गया है कि जिनके द्वारा या जिनमें जीवोंका अन्वेषण किया जाता है वे चौदह मार्गणाएं हैं। इस गाथामें जीव पद पड़ा हुआ है इससे भी स्पष्ट होता है कि चौदह मार्गणाओं में या चौदह मार्गणाओंके द्वारा जीवोंका ही अन्वेषण किया गया है। दूसरी गाथामें चौदह मार्गणाओंके नाम हैं। प्रतिज्ञाके अनुसार गति, जाति, आदि ये सब नाम जीवोंके ही हैं।

आचार्यने जीवोंके कहनेकी प्रतिज्ञा की है, तदनुसार गुण-स्थान और मार्गणाओं में उनने जीवोंका ही कथन किया है किन्तु पं. मक्खनलालजी इसके विरुद्ध कहते हैं कि यह सब कथन शरीरोंका है। इस अलौकिक सूझ परसे समन्वयके लेखक महोदयने सारे गुड़को गोबर बनाया है। कथन है जीवोंका और बता रहे हैं शरीरोंका। शरीरोंके साधनार्थ उनने सत्प्ररूपणाके कुछ सूत्र लिखे हैं उनमें से नमूनेके बतौर कुछ सूत्र इसप्रकार हैं—

आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्ख-गदी मणुसगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि ॥ २४ ॥

इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चदुरिंदिया पंचिंदिया अणिंदिया चेदि ॥ ३३ ॥

एइंदिया दुविहा बादरा सुहमा, बादरा दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता सुहुमा दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता ॥ ३४ ॥

इन सूत्रोंका अर्थ हम क्रमवर्णनमें दे आये हैं। इनमें इन्द्रियोंकी अपेक्षा, और कायकी अपेक्षा जीवोंके भेद कहे गये हैं न कि शरीर

या शरीरसंम्बन्धसे जीवोंके भेद कहे हैं । शरीर सम्बन्धके विना इन्द्रियकी अपेक्षासे जीवोंका कथन, कायकी अपेक्षासे जीवोंका कथन बन ही नहीं सकता तो फिर अनिन्द्रिय और अकाय इन शब्दोंके द्वारा सिद्धजीवोंका कथन कैसे बन गया ? जैसे विना शरीरके यह कथन बन जाता है वैसे ही विना शरीर सम्बन्धके इन्द्रियों और कायोंका कथन भी बन जाता है । नहीं ही बनता है तो विग्रह-गतिके जीव नारकी, एकेन्द्रिय, पृथिवीकायादि कभी होंगे ही नहीं । क्योंकि शरीर और द्रव्यवेद विग्रहगतिमें हैं ही नहीं । तथा शरीरसम्बन्धका प्रतिपादक पद भी सूत्रोंमें बताना चाहिये ।

मालूम पड़ता है बादर–सूक्ष्म, और पर्याप्त – अपर्याप्त इन शब्दोंपरसे समन्वयके लेखक शरीर और द्रव्यवेद पर लट्टू हुए हैं । अतएव उनने सूत्र नं. २४ जो गतियोंकी अपेक्षा, सूत्र नं. ३३ जो इन्द्रियोंकी अपेक्षा और सूत्र नं. ३९ जो कि कायकी अपेक्षा जीवोंके भेदोंका वर्णन करते हैं तथा सूत्र नं. ३४–३५ जो एकेन्द्रियादि जीवोंके भेद–प्रभेदोंका और सूत्र ४०–४१ जो पृथिवीकायिकादि जीवोंके भेद–प्रभेदोंका कथन करते हैं उन सब सूत्रोंके विषयमें हर एक स्थलमें जरा भी हिचकिचाहट न करते हुए यह लिख मारा है कि " ये सब सूत्र द्रव्यशरीरका ही प्रतिपादन करते है, द्रव्यवेदका ही प्रतिपादन करते हैं, कहीं यह जीवोंका कथन सर्वथा द्रव्यशरीरका ही निरूपक है कहीं बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त–पर्याप्त ये जीवोंके भेद केवल द्रव्यवेद अथवा द्रव्यशरीरकी अपेक्षासे ही किये गये हैं, ये सभी भेद

द्रव्यशरीरके ही हैं, यह सब विवेचन भी सब द्रव्यवेदका ही है इत्यादि "। (देखो पेज १८ से २६ तक)

पं. मक्खनलालजीके इन वाक्यों परसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्प्ररूपणामें द्रव्यशरीर और द्रव्यवेदके प्रतिपादक कोई सूत्र नहीं हैं। होते तो वे सीधे उन सूत्रोंको ही प्रमाणमें पेश करते, न कि ऐसी 'गुलामझापड़ी' खेलते। भेद तो कहे गये हैं जीवोंके, बताते हैं शरीरोंके। कल्पना कीजिये किसी भी आगममें इन जीवोंके द्रव्यशरीर या द्रव्यवेद न कहा गया होता तो क्या सूत्रोंका द्रव्यशरीर या द्रव्यवेद यह अर्थ निकाल सकते थे। कदापि नहीं। अन्यत्रकी योजना का आश्रय लेकर प्रकृत कथनको विपरीत बना डालना तो श्रेयोमार्ग नहीं है। यहां कथन भाव मार्गणाओंका है, भावमार्गणाओं में द्रव्यशरीर और द्रव्यवेद अप्रकृत वस्तु हैं।

बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त ये भेद भी द्रव्यशरीर से या द्रव्यवेदसे सीधा सम्बन्ध नहीं रखते हैं। किन्तु वे जीव विग्रहगतिमें द्रव्यशरीर और द्रव्यवेदके बिना भी बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। इनके होनेमें शरीर अपेक्षित नहीं है, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त नामके नामकर्मोंका उदय अपेक्षित है। नामकर्मकी सत्ताईस प्रकृतियां ऐसी हैं जो जीवविपाकी हैं, जीव विपाकीका अर्थ है जिनका फल जीवों में ही हो। ये सत्ताईस प्रकृतियां ये हैं—

तित्थयरं उस्सासं बादर पज्जत्त सुस्सरादेज्जं । जसतस
विहायसुभग–दु चउगइ पण जाइ सगवीसं ॥ ५१ ॥
—कर्मकांड

अर्थात् तीर्थंकर, उच्छ्वास, बादर–सूक्ष्म, पर्याप्त–अपर्याप्त, सुस्वर–दु स्वर, आदेय–अनादेय, यशस्कीर्ति– अयशस्कीर्ति, त्रस–स्थावर, प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगति 'सुभग–दुर्भग' चार गतियां और पांच जातियां एवं सत्ताईस प्रकृतियां जीवविपाकी कही गई हैं। ये सत्ताईस प्रकृतियां ऐसी हैं जिनका खास फल सीधा जीवों में पाया जाता है। अत सिद्ध होता है कि बादरनामकर्मके उदयवाले बादर जीव, सूक्ष्म नामकर्मके उदयवाले सूक्ष्म जीव, पर्याप्त नामकर्मके उदयवाले पर्याप्त जीव और अपर्याप्त नामकर्मके उदयवाले अपर्याप्त जीव होते हैं।

पं. मक्खनलालजी अपने प्रत्येक वाक्यमें 'ही' पदका प्रयोग कर रहे हैं, जो 'शंख पाडुर एव' जैसा मालूम पड़ता है। यह एवकार शंखमें पाडुरत्व की विधि और उसमें कृष्णत्वादि अन्यरंगोंके सम्बन्धका निषेध करता है। ठीक इसीप्रकार पं. मक्खनलालजी की 'ही' शरीरोकी विधिके सिवा और किसी भी प्रकारके विधानका निषेध करती है। वे सौ सूत्र गति, इन्द्रिय, काय, योगका और इनमें गुणस्थानोंका निषेध करते हैं जिनकी कि सूत्रोंमें विधि है और शरीरोकी विधि करते हैं जिनका कि सूत्रोंमें नाम तक नहीं है। मालूम नही ऐसा पाठ पं. मक्खनलालजीने कहां और कब पढ़ लिया है।

पं. मक्खनलालजी कहते हैं ' षट्खंडागम ' सिद्धान्तको श्रावकोंको नहीं पढ़ना चाहिए। हम इसकी ताईद करते हैं और की भी है। जब पं. मक्खनलालजी जैसे श्रावक पंडित भी षट्खंडागमको पढ़कर विपरीत अर्थ प्रगट कर रहे हैं तब अन्य द्रव्यस्त्रीमुक्ति प्रतिपादकोंकी तो बात ही क्या है ? उन लोगोंने षट्खंडागम पढ़ा, पढ़कर षट्खंडागमसे द्रव्यस्त्रीमुक्ति ईजाद की। पं. मक्खनलालजीने पढ़ा उनने द्रव्यशरीर और द्रव्यवेद ईजाद किये। दोनोका यह एकरूप अच्छा गठ जोड़ा हो गया। इसे हम आगे और भी स्पष्ट करेंगे।

कृत्यनुयोगद्वारमें भगवद्वीरसेन कहते हैं कि भावानुगमकी अपेक्षा गतिके अनुवादसे नरकगतिमें कृति, नोकृति और अवक्तव्यरूपसे संचित हुए नारकियोंके कौनसा भाव होता है ? औदयिक भाव होता है। शंका–नारकियोंके अनेक भावोंके होते हुए एक औदयिक भाव ही कैसे युक्त हो सकता है ? समाधान–नहीं, क्योंकि यहां नारकभावकी अपेक्षा है, क्योंकि अन्यभावोंसे नारकभावकी उत्पत्ति नहीं होती है। इसीप्रकार सब गतियोंमें कहना चाहिए। इन्द्रियमार्गणामें भी औदयिक भाव है। क्योंकि एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पंचेन्द्रियजाति कर्मोंसे एकेन्द्रियादि औदयिक भावोंकी उत्पत्ति होती है। इसीप्रकार कायमार्गणामें भी औदयिक भाव कहना चाहिए। क्योंकि पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रसनामकर्मोंसे

पृथिवीकायादि भावोंकी उत्पत्ति होती है। योगमार्गणा भी औदयिक भाव है। क्योंकि कर्मोंकी उदीरणा और उदयसे यह भाव उत्पन्न होता है। यथा—

भावाणुगमेण गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइयाणं कदिणोकदिअवत्तव्वसंचिदाणं को भावो ? ओदइओ०। अणेगेसु भावेसु संतेसु कथमोदइयत्तं चेव जुज्जदे ? ण, णेरइयभावप्पणादो, इदरेहि भावेहिंतो णेरइयभावाणुप्पत्तीदो। एवं सव्वगदीणं वत्तव्वं। इंदियमग्गणाए वि ओदइओ भावो, एगवीतीचदुपंचिंदियजादिकम्मेहिंतो तस्सुप्पत्तीदो। एवं कायमग्गणाए वि वत्तव्वं. पुढवि० आउ० तेउ० वाउ० वणप्फदि—तसणामकम्मेहिंतो तदुप्पत्तीदो। जोगमग्गणाए वि ओदइओ णाम, कम्मस्स उदीरणोदयजणिदत्तादो।

इसीप्रकार आगेकी दश मार्गणाओंमें भी भाव कहे गये है, लेख बढ़नेके कारण उनको यहां नही दे सके हैं। इस उद्धरणसे ज्ञात होता है कि नारकादिभाव, एकेन्द्रियादिभाव, और पृथिवीआदिभाव तीनो ही भाव जीवोके औदयिकभाव हैं जिनसे ये चारो मार्गणाएं उत्पन्न होती हैं। शंका—समाधानसे तो और भी स्पष्ट हो जाता है कि ये चारो मार्गणाएं भी अपने अपने औदयिक भावसे ही उत्पन्न होती हैं, न अन्य औदयिक क्षायोपशमिकादि भावोंसे ही उत्पन्न होती हैं और न ही इन भावोसे शरीर उत्पन्न

होते हैं। इस कथन परसे भी यह जान लेना सहज है कि आदिकी चार मार्गणाओंके सौ सूत्र द्रव्यशरीर और द्रव्य वेदके प्रतिपादक नहीं है किन्तु जीवोंके गत्यादि भावोंके ही प्रतिपादक हैं।

भावप्रकरणमें द्रव्यशरीर और द्रव्यवेद अधिकृत नही है।

जीवोके मूल भाव पाच है, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोप शमिक, औदयिक और पारिणामिक। इनके क्रमसे दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं। जो मिलकर सख्यामें त्रेपन होते हैं। चौदह जीवस्थान, चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणा स्थान ये इन्ही भावोसे उत्पन्न होते हैं। शरीर और द्रव्यवेद, औप शमिक क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव तो हो ही नही सकते, औदयिकभा। हो सकते हैं। क्योकि शरीरनामकर्मके उदयसे शरीर और योनि–मेहन–तद्व्यतिरिक्त अगोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे द्रव्यवेद होते हैं फिर भी शरीर और द्रव्यवेद जीवके औदयिक भावोमें परिगृहीत नही हैं। इस सम्बन्धमें अकलक देव लिखते हैं कि—

वेदोदयापादितोऽभिलाषविशेषो लिंग । ३ । लिंग द्विविध द्रव्यलिंग भावं च। तत्र यद्द्रव्यलिंगं नामकर्मोदया-

पादितं तदिह नाधिकृतं, आत्मपरिणामप्रकरणात् । भावलिंगं आत्मपरिणामः स्त्री–पुं–नपुंसकान्योन्याभिलाषलक्षणः । स पुनश्चारित्रमोहविकल्पस्य नोकषायस्य स्त्रीवेद–पुंवेद–नपुंसकवेदस्योदयाद्भवतीत्यौदयिकः । —राजवार्तिक

इसका आशय यह कि वेदके उदयसे आपादित अभिलाष विशेषको लिग कहते हैं। वह लिग दो प्रकारका है द्रव्य-लिंग और भावलिंग। उनमें से नामकर्मके उदयसे उत्पन्न जो द्रव्य लिग है वह यहां अधिकृत नहीं है। क्योंकि यह आत्माके परिणामोंका प्रकरण है, द्रव्यवेद आत्मका कोई परिणाम नहीं है। भाववेद आत्माका परिणाम है। जिसका लक्षण स्त्री–पुरुषोंका परस्पर अभिलाष–चाह करना रूप है। वह भाववेद चारित्रमोहका भेद नोकषायरूप स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयसे होता है इसलिए वह भाववेद अत्माका एक औदयिक भाव है।

षट्खंडागमका आदिका सत्प्ररूपणाप्रकरण भी जीवके भावोंका प्रकरण है। इसलिए षट्खंडागममें भी यह नियम लागू पड़ता है। क्योंकि गुणस्थान और द्रव्यप्रमाणादि विषय भाववेदों में ही कहे गये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि षट्खंडागमके आदिके तीन खंडों में कहीं भी द्रव्यवेद अधिकृत नहीं है। अतएव आदिकी चार मार्गणाओंमें भी वह द्रव्यवेद नहीं कहा गया है। ऐसा निश्चित समझ लेना चाहिये।

शरीर भी औदायिक भावोंमें परिगृहीत नहीं है यह बात भी निम्न शंका और उसके समाधानसे सुस्पष्ट होती है। यथा–

अत्र चोद्यते–यथाज्ञानमौदयिकं एवमदर्शनमपि दर्शनावरणोदयाद्भवतीत्यौदयिकं ? निद्रानिद्रादयश्च औदयिकाः, आयुरुदयाद्भवधारणं भवतीत्यौदयिकं, वेदनीयोदयात्सुखदुःखमौदयिकं, नोकषायाश्च हास्यरत्यादयः षडौदयिकाः, उच्चैर्नीचैर्गोत्रकर्मोदयादुच्चनीचगोत्रपरिणामो भवतीत्यौदयिकः, नामकर्मणि च जात्यादय औदयिकाः, एतेषामपरिगृहान्न्यूनं लक्षणं । अथ मतं, आत्मपरिणामस्याधिकृतत्वाच्छरीरादीनामौदयिकत्वेऽपि पुद्गलविपाकित्वात्तेषामसंग्रह इति, एवमपि ये जीवविपाकिनस्तेषां ग्रहणं कर्तव्यं जात्यादीनां ।

यहा पर शंकाकार कहता है कि जैसे अज्ञान औदयिकभाव है इसी प्रकार अदर्शन भी दर्शनावरणके उदयसे होता है इसलिए औदयिकभाव है और निद्रानिद्रा आदिक भी औदयिकभाव हैं- वेदनीयके उदयसे सुख और दु.ख होता है वह भी औदयिक भाव है, हास्यरति आदि छह नोकषाय भी औदयिक हैं, ऊंच और नीच गोत्रकर्मके उदयसे ऊंच और नीचगोत्र रूप परिणाम होता है इसलिए ऊंच और नीचगोत्र परिणामभी औदयिकभाव है और नामकर्ममें जात्यादिक औदयिक भाव हैं, इन सबका ग्रहण इस सूत्रमें नहीं है इसलिए यह लक्षण न्यून लक्षण है । यदि ऐसा कहो ' कि आत्माके परिणाम यहां पर अधिकृत हैं इसलिए शरीर आदिकोका औदयिक भावरूप होने पर भी पुद्गलविपाकी होनेसे इस सूत्रमें संग्रह नहीं किया गया है ' यदि ऐसा है तो

जो जात्यादिक भाव जीवविपाकी हैं उनका तो ग्रहण करना चाहिए। इस शंकाका समाधान आचार्य अकलंकदेव इसप्रकार करते हैं—

अत उत्तरं पठति—मिथ्यादर्शनेऽदर्शनावरोधो भवति निद्रानिद्रादीनामपि दर्शनसामान्यावरणत्वात्तत्रैवान्तर्भावः, लिंगग्रहणे हास्यरत्यादीनामन्तर्भावो भवति सहचारित्वात्, अघातिककर्मोदयापादिता ये भावास्तेषां गतिग्रहणमुपलक्षणं यथा काकेभ्यो रक्षतां सर्पिरिति काकग्रहणमुपघातकोपलक्षणं। तेन जात्यादयो भावा नामकर्मविशेषोदयापादिता वेदनीयायुर्गोत्रोदयकृताश्च गृह्यन्ते।

इसका भाव यह है कि मिथ्यादर्शनमें अदर्शनका अन्तर्भाव होता है और निद्रानिद्रा आदिका भी दर्शनसामान्यावरणके होनेसे मिथ्यादर्शनमें ही अन्तर्भाव है। लिंगके ग्रहणमें हास्यरति आदिका अन्तर्भाव होता है क्योंकि लिंग और हास्यादि नारद–पर्वतकी तरह सहचारी हैं। अघातिकर्मोंके उदयसे उत्पन्न जो भाव हैं उनका *गतिग्रहण उपलक्षण* हैं, जैसे कि कौओंसे दही को बचाना इस वाक्यमें काकशब्दका ग्रहण बिल्ली आदि घीके भक्षक जानवरोंका उपलक्षण है, इसकारण गतिपदसे नामकर्मके विशेषोदयमें आपादित जात्यादिभाव और वेदनीय, आयु और गोत्रके उदयसे जन्य भाव ग्रहण किये गये हैं।

इस शंका और समाधानसे दो बातें स्पष्ट होती हैं एक तो एकेन्द्रियादि जातियां और उनके बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त,

त्रस, स्थावर ये सब जीवविपाकी औदयिक भाव हैं, भाष्यमें भी इनके साथ भावपद प्रयुक्त है। दूसरी यह कि जो शरीरादि पुद्गलविपाकी औदयिक भाव हैं वे आत्माके परिणाम न होनेसे यहां पर अधिकृत नहीं हैं इसकारण शरीरादिकोंका जीवके औदयिक भावोंमें संग्रह नहीं है। अकलंकविभुके निम्न वचन भी ध्यान देने योग्य हैं, यथा—

त्रसनामकर्मणो जीवविपाकिन उदयापादितवृत्तिविशेषास्त्रसा इति व्यपदिश्यन्ते। स्थावरनामकर्मणो जीवविपाकिन उदयेन उपजनितविशेषाः स्थावरा इत्याख्यायन्ते। स्थावरनामकर्मभेदाः पृथिवीकायादयः सन्ति तदुदयनिमित्ता जीवेषु पृथिव्यादयसंज्ञा वेदितव्याः। समवाप्तपृथिवीकायिकनामोदयः कार्मणकाययोगस्थो यो न तावत्पृथिवीं कायत्वेन गृह्णाति स पृथिवीजीवः। एवं अब्जीवः तेजोजीवः वायुजीवः वनस्पतिजीवः।

अर्थात् जीवविपाकी त्रसनामकर्मके उदयसे जिनमें त्रसत्वनामकी विशेषता उत्पन्न होती है वे जीव त्रसजीव कहे जाते हैं। जीवविपाकी स्थावर नामकर्मके उदयसे जिनमें स्थावरत्व नामकी विशेषता उत्पन्न होती है वे स्थावरजीव कहे जाते हैं। पृथिवीकाय आदि स्थावर नामकर्मके पांच भेद हैं उनके उदयसे जीवोंमें पृथिवीकाय आदि संज्ञाएं जानना चाहिए। जिसके पृथिवीकायिक नामकर्मका उदय तो हो जाता है और कार्मणकाययोग अर्थात् विग्रहगतिमें स्थित होता है ऐसा जीव जब तक पृथिवीको शरीर-

रूपसे ग्रहण नहीं करता है तब तक पृथिवीजीव कहलाता है। ऐसा ही अब्जीव, तेजोजीव, वायुजीव, वनस्पतिजीव इन सबको समझना चाहिये।

इन वाक्योंमें अकलंकदेवने त्रस स्थावर और पृथिवीकाय आदिमें औदयिक भाव ही कहा है तथा विग्रहगतिके जीवोंके शरीरका निषेध कर दिया है तो भी विग्रहगतिमें इन सब जीवोंकी त्रस, स्थावर, पृथिवीकाय आदि ये संज्ञाएं अपने अपने जीव-विपाकी नामकर्मके उदयसे पाई जाती हैं यह भी कह दिया है। शरीर ग्रहण कर लेने पर भी उनमें ये संज्ञाएं रहती हैं। क्योंकि इन सब जीवोंके जन्मसे मरणतक त्रसादि जीवविपाकी नामकर्मोंका उदय पाया जाता है। अकलंकदेवने चौदह जीव समासोंको भी नामकर्मके उदयसे जायमान भावविशेष कहा है। तदपि यथा—

तानि नामोदयापादितविशेषाणि। एकेन्द्रियजातिसूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनामोदयजनितानि चत्वारि जीवस्थानानि एकेन्द्रियेषु। द्वीन्द्रियादिषु बादरनामोदय एव। विकलेन्द्रियेषु द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रयजातिपर्याप्तकापर्याप्तकनामोदयनिर्वर्तितानि षड् जीवस्थानानि। पचेन्द्रियेषु सञ्ज्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकनामोदयकृतभेदानि चत्वारि जीवस्थानानि।—राजवार्तिकालंकार

इन सब उद्धरणोंमें भी भावजीव ही कहे गये हैं। शरीर उन उन जीवोंके होते हैं किन्तु उन शरीरोंके उदयसे जीवोंमें

एकेन्द्रियादि और पृथिवी आदि संज्ञाएं नहीं होती हैं और न ही इन त्रसादि नामकर्मोंके उदयसे शरीरोंका होना कहा गया है किन्तु इन त्रसादिकर्मोंके उदयसे जीव ही त्रस, स्थावर, पृथिवी आदि भाववाले होते हैं अतः इन भावोंकी वजहसे जीव ही त्रस, स्थावर पृथिवी आदि कहे गये हैं। यही सब भावात्मक कथन सत्प्ररूपणामें किया गया है। तात्पर्य यह है कि आदिकी चार मार्गणाओंमें भी शरीर नहीं कहे गये हैं किन्तु नारकादि, एकेन्द्रियादि, पृथिव्यादि और योगादि भावरूप जीव ही कहे गये हैं। शरीर यहां उनके नहीं कहे गये हैं। अतः नं. ९३ सूत्रस्थ मनुषिणीके भी इन सौ सूत्रोंसे शरीर और द्रव्यस्त्रीवेद सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि सौ सूत्रोंमें सिवा भावात्मक जीवोंके, शरीर और द्रव्यवेद कहे नहीं गये हैं।

पर्याप्तियोंका वाच्यार्थ।

पर्याप्तियां आहार, शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा और मनकी निष्पत्तिके प्रति कारण हैं। जब कि संसारके सभी प्राणियोंके उक्त छहोंकी रचना करनेवाले कर्मोंका उदय निमित्त कारण है तब पर्याप्तियोंसे आनुमानिकी शरीरसिद्धि हो ही जाती है परन्तु इसका नाम शरीरोंका कथन किया गया यह नहीं है। जैसे चौदह मार्गणाओंका अस्तित्व, उत्पत्तिकारण और उनमें गुणस्थानोंका अस्तित्व कहकर संख्या, क्षेत्रादि कहे गये हैं उस तरह

शरीरोंका अस्तित्व, उनकी उत्पत्तिके कारण और उनमें गुणस्था-नोंका अस्तित्व कहकर संख्या, क्षेत्रादि कोई भी अनुयोगद्वार कहे नहीं गये हैं। अतः कहना पड़ता है की शरीर यहां पर नहीं कहे गये हैं। अकलंकदेव इस भावप्रकरणमें द्रव्यवेदों और शरीरोंको आत्म-परिणामोंका प्रकरण होनेके कारण अप्रकृत कह ही रहे हैं। फिर इन जीवविपाकी प्रकृतियोंका अर्थ शरीर और द्रव्यवेद कैसे हो जायगा? गति, इन्द्रिय, काय, योग, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्ति इन सभी शब्दोंका वाच्यार्थ शरीर और द्रव्यवेद नहीं हैं। इस सम्ब-न्धमें पुष्कल प्रमाण दिये जा चुके हैं। पुनः और भी दिये जाते हैं।

वसुनन्दी सैद्धान्ती आचारवृत्तिमें लिखते है कि '**पर्याप्तयः आहारादिकारणनिष्पत्तय:**' अर्थात् आहारादिके कारणोंकी निष्पत्तिको पर्याप्तियां कहते हैं। दूसरी जगह लिखते हैं **पउअत्ती पर्याप्तयः संपूर्णताहेतवः** इस पदका गाथाके पदोंसे सम्बन्ध है। इसलिए यह अर्थ हुआ कि आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनकी सम्पूर्णताके कारणोको पर्याप्तियां कहते हैं। इससे यह आया कि इन छह की पूर्णताका जो कारण है वह कारण पर्याप्तियां हैं न कि आहार व शरीरआदि।

वे ही आचार्य वसुनन्दी कहते हैं— जिस कारणसे जीव तीन शरीरोके योग्य आँहारको खलरसभाग करनेमें समर्थ हो जाता है उस कारणकी निर्वृत्ति अर्थात् सम्पूर्णताका नाम आहारपर्याप्ति है। जिस कारणसे शरीरके योग्य पुद्गलद्रव्योंको ग्रहणकर औदा-

रिक, वैक्रियिक और आहारक शरीररूपसे परिणमानेमें जीव समर्थ होता है उस कारणकी निर्वृत्ति सम्पूर्णताका नाम शरीरपर्याप्ति है। जिसकारणसे एक इन्द्रियके, दोइन्द्रियोंके, तीनइन्द्रियोंके चार इन्द्रियोंके और पांच इन्द्रियोंके योग्य पुद्गलद्रव्योंको ग्रहण कर आत्मा अपने विषयमें जाननेके लिए समर्थ होता है उस कारणकी निर्वृत्ति–परिपूर्णताका नाम इन्द्रियपर्याप्ति है। जिस कारणसे जीव आनपानके योग्य पुद्गलद्रव्योंको अवलंबन लेकर आनपानपर्याप्तिके द्वारा उनको निकालनेमें समर्थ हो जाता है उस कारणकी निर्वृत्ति-सम्पूर्णताका नाम आनपान–श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति है। जिस कारणसे जीव सत्यभाषादि चार प्रकारकी भाषाओके योग्य पुद्गलद्रव्योंका आश्रय लेकर उनको चार प्रकारकी भाषास्वरूपसे परिणमाने में समर्थ होता है उस कारणकी निर्वृत्ति अर्थात् सम्पूर्णताका नाम भाषापर्याप्ति है और जिस कारणसे चार प्रकारके मनके योग्य पुद्गल-द्रव्यका आश्रय लेकर उनको चार प्रकारकी मनः पर्याप्तिके रूपमें परिणमानेमें जीव समर्थ होता है उस कारणकी निर्वृत्ति–सम्पूर्णताका नाम मनःपर्याप्ति है। यथा—

येन कारणेन त्रिशरीरयोग्यं भुक्तमाहारं खलरसभागं कृत्वा समर्थो भवति जीवस्तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः संपूर्णता आहारपर्याप्तिरित्युच्यते। येन कारणेन शरीरप्रायोग्याणि पुद्गलद्रव्याणि गृहीत्वौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरस्वरूपेण परिणमय्य समर्थो भवति तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः सम्पूर्णता

शरीरपर्याप्तिरित्युच्यते। येन कारणेनैकेन्द्रियस्य द्वीन्द्रियस्य त्र्यादीनामिन्द्रियाणां चतुर्णां इन्द्रियाणां पंचेन्द्रियाणां प्रयोग्यानि पुद्गलद्रव्याणि गृहीत्वात्मात्मविषये ज्ञातुं समर्थो भवति तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः परिपूर्णता इन्द्रियपर्याप्तिरित्युच्यते। येन कारणेन आनपानप्रायोग्यानि पुद्गलद्रव्याण्यवलम्ब्य आनप्राणपर्याप्त्या निःसृत्य समर्थो भवति तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः सम्पूर्णता आनप्राणपर्याप्तिरित्युच्यते। येन कारणेन चतुर्विधायाः भाषायाः प्रायोग्यानि पुद्गल द्रव्याण्याश्रित्य चतुर्विधाया भाषायाः स्वरूपेण परिणमय्य समर्थो भवति तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः सम्पूर्णता भाषापर्याप्तिरित्युच्यते। येन कारणेन चतुर्विधमनःप्रायोग्यानि पुद्गलद्रव्याण्याश्रित्य चतुर्विधमनःपर्याप्त्या परिणमय्य समर्थो भवति तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः सम्पूर्णता मनःपर्याप्तिरित्युच्यते।

इस लक्षण प्रणयन से स्पष्ट होता है कि पर्याप्तियां शरीरका वाचक नहीं हैं।

> पज्जत्तीपज्जत्ता भिण्णमुहुत्तेण होंति णायव्वा।
> अणुसमयं पज्जत्ती सव्वेसिं चोववादीणं ॥ ७ ॥

—पर्याप्तिसंग्रहण्यां वट्टकेरः कुन्दकुन्ददेवो वा

गाथाका सामान्य अर्थ यह है कि मनुष्य और तिर्यंच एक समय कम दो घड़ीमें पर्याप्तियोसे अर्थात् आहारादिके कारणोंसे

सम्पूर्ण परिपूर्ण हो जाते हैं और सब औपपादिक अर्थात् देवनार-कियोंके प्रतिसमय पर्याप्तियां पूर्ण होती हैं।

भगवद्वसुनन्दी सिद्धान्ती इस गाथाकी टीकामें एक शंकाका उत्तर इसप्रकार करते हैं।

शंका—यह कौनसा विशेष है कि देव और नारकियोंके तो प्रतिसमय पर्याप्तियां पूर्ण होती रहती हैं और शेष जीवोंके भिन्नमुहूर्तमें पूर्ण होती हैं?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है कि देव और नारकियोंके पर्याप्तिसमान कालमें ही सब अवयवोंकी निष्पत्ति हो जाती है, शेष जीवोंके नहीं होती है। क्योंकि जिस ही कालमें देव और नारकियोंके आहारादि कारणों (आहारादिपर्याप्तियों) की निष्पत्ति होती है उसी कालमें उनके शरीरादिकार्योंकी भी निष्पत्ति हो जाती है। परन्तु तिर्यंचों और मनुष्योंके आहारादिकारणोंकी अर्थात् आहारादिपर्याप्तियोंकी निष्पत्ति तो थोड़ेसे कालमें ही हो जाती है और शरीरादिकार्योंकी निष्पत्ति बहुत लंबे कालमें जाकर होती है। अतः सब उपपादियोंके अनुसमय—प्रतिसमय पर्याप्तियां होती हैं और तिर्यंच—मनुष्योंके भिन्नमुहूर्तमें पर्याप्तियां होती हैं ऐसा कहा गया। यथा—

अथ स्यान्मतं, कोऽयं विशेषो देव—नारकाणामनुसमयं पर्याप्तिः, शेषाणां भिन्नमुहूर्त्तेनेति ? नैष दोषः, देवनारकाणां पर्याप्तिसमानकाले एव सर्वावयवानां निष्पत्तिर्भवति न शेषाणां सर्वेषां, यतो यस्मिन्नेव काले देवनारकाणामाहारा-

दिकारणस्य निष्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले शरीरादिकार्यस्यापि । तिर्यङ्मनुष्याणां पुनर्लघुकालेनाहारादिकारणस्य निष्पत्तिः शरीरादिकार्यस्य च महता, अतः सर्वेषामुपपादिनामनुसमयं पर्याप्तस्तिर्यङ्मनुष्याणां भिन्नमुहूर्त्तेनेत्युक्तमिति ।

इससे यह निश्चित होता है कि आहारादि पर्याप्तिया कारण है और द्रव्यशरीरादि कार्य हैं। तथा मनुष्यतिर्यंचोंके शरीर, पर्याप्ति कालमे ही पूर्ण बनकर तैयार नही होते हैं किन्तु पर्याप्तियोंकी निर्पत्तिके कितनही रख काल बाद बनकर तैयार होते हैं। अत पर्याप्तिया और शरीर एक चीज नहीं हैं किन्तु भिन्न भिन्न चीजें हैं। जिन देव–नारकोंके पर्याप्तियोके पूर्ण कालमें ही शरीर बन जाता है उनके भी पर्याप्तियामें और शरीरोमें कार्य–कारण भेद है यह बात उक्त कथन परसे सिद्ध होती है। अत पर्याप्त–अपर्याप्तशब्दोद्वारा पर्याप्तिया अपर्याप्तिया ही कही गई हैं। न कि शरीर।

इस विषयमें धवलाकारका अभिमत जान लेना भी आवश्यक है। वे भी पर्याप्तकर्मके उदयवाले जीवोंको ही पर्याप्त कहते हैं न कि शरीरोको। यथा—**पर्याप्तकर्मोदयवन्तः पर्याप्ताः।**

शका–पर्याप्तनामकर्मके उदयवाले वे जीव जिनका कि शरीर बनकर तैयार नहीं हुआ है उनमे पर्याप्तव्यपदेश कैसे घटित होता है।

उत्तर–नहीं, क्योकि नियमसे शरीरको उत्पन्न करनेवाले जीवोके आगे होने वाले कार्यमें पहले हुए कार्यकी तरह उपचार

कर लेनेसे आगे पर्याप्त होने वाले जीवको पहले भी पर्याप्त मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। यथा—

तदुदयवतामनिष्पन्नशरीराणां कथं पर्याप्तव्यपदेशो घटते इति चेन्न, नियमेन शरीरनिष्पादकानां भाविनि भूतवदुपचारतस्तदविरोधात्।

इस शंका-समाधान से शरीर बनकर तैयार न होनेके पहलेसे ही पर्याप्तियोंके उदयवाले जीव पर्याप्त सिद्ध हैं आगे वे शरीर बनावेंगे इसका निषेध तो कोई करता ही नही हैं, करता यह है कि पर्याप्ति का अर्थ शरीर नही है। आगे फिर शंकाकार शंका करता है कि यदि पर्याप्तशब्द निष्पत्ति अर्थात् शक्तिकी पूर्णताका वाचक है तो वे जीव किनसे निष्पन्न परिपूर्ण होते हैं? उत्तर देते हैं-पर्याप्तियोंसे निष्पन्न होते हैं। यथा—

यदि पर्याप्तशब्दो निष्पत्तिवाचकः कैस्ते निष्पन्ना इति चेत्, पर्याप्तिभिः।

इस शंकासमाधानमें पर्याप्तियोंको निष्पत्तिका वाचक कहा गया न कि द्रव्यशरीरोंको। इससे आगे पर्याप्तियां कितनी हैं? यह पूछा गया है और संख्या पूर्वक पर्याप्तियोंके नाम बताकर उनका अर्थ बतलाया है।

यहीं पर इन्द्रियपर्याप्तिका स्वरूप इसप्रकार कहा है कि योग्य देशमें स्थित रूपादि विशिष्ट अर्थके ग्रहण करने रूप शक्तिकी उत्पत्तिके निमित्तभूत पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं। इस लक्षणमें उपकरण द्रव्यन्द्रियोंको इन्द्रियपर्याप्ति नहीं कहा गया

है। यह पर्याप्ति भी शरीर पर्याप्तिसे अन्तर्मुहूर्त पश्चात् उत्पन्न होती है। यहीं पर एक विशेष बात कहते हैं कि इन्द्रियपर्याप्तिके पूर्ण हो जाने पर भी उसी क्षणमें बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता है, इसका कारण यह कि इन्द्रियपर्याप्ति तो पूर्ण होगई है परन्तु उस समय उसके उपकरणात्मक द्रव्येन्द्रियां और मन बनकर तैयार नहीं हो पाते हैं। यथा—

योग्यदेशावस्थितरूपादिविशिष्टार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तेर्निमित्तपुद्गल-प्रचयावाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः। सापि ततः पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते। न चेन्द्रियनिष्पत्तौ सत्यामपि तस्मिन् क्षणे बाह्यार्थविषयविज्ञानमुत्पद्यते तदा तदुपकरणाभावात्।

इस प्रमाणसे यह बात निश्चित होती है कि इन्द्रियपार्याप्तिके पूर्ण हो जाने परभी शरीरोंमें होनेवालीं उपकरणात्मक द्रव्येन्द्रियां इन्द्रियपर्याप्तिकी पूर्णताके समय नहीं होती हैं। इससे ज्ञात होता है कि इन्द्रियपर्याप्ति और द्रव्येन्द्रियां दोनों एक वस्तु नहीं है। इसीप्रकार शरीरपर्याप्तिकी पूर्णताके समय शरीर और मनः पर्याप्तिकी पूर्णताके समय अष्ट पंखुरियोंके आकार द्रव्यमन भी नहीं हैं। इसलिए मालूम होता है कि शरीरपर्याप्ति शरीरका वाचक, इन्द्रियपर्याप्ति उपकरणेन्द्रियोंका वाचक और मनःपर्याप्ति द्रव्यमनका वाचक नहीं है। तथा ' आहारशरीरेन्द्रियानपानभाषमनःशक्तीनां निष्पत्तेः कारणं पर्याप्तिः '। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन रूप शक्तिकी निष्पत्तिके कारणको पर्याप्ति कहते हैं।

इस धवलोक्त पर्याप्तियोंके लक्षणसे पर्याप्तियां भिन्न हैं और शरीर भिन्न हैं यह निश्चित होता है। और भी देखिये—

" एत्थ अपज्जत्तवयणेण अपज्जत्तणामकम्मोदयसहिदजीवा घेत्तव्वा, अण्णहा पज्जत्तणामकम्मोदयसहिदणिव्वत्तिअपज्जत्ताणं पि अपज्जत्तवयणेण गहणप्पसंगादो। एवं पज्जत्ता इति वुत्ते पज्जत्तणामकम्मोदयसहिदजीवा घेत्तव्वा, अण्णहा पज्जत्तणामकम्मोदयसहिद-णिव्वत्तिअपज्जत्ताणं गहणाणुववत्तीदो "।— द्रव्यप्र० पे. ३११

अर्थात् यहां पर अपर्याप्तवचनसे अपर्याप्तनामकर्मके उदयसे सहित जीवोंका ग्रहण करना चाहिये, नहीं तो अर्थात् अपर्याप्त शब्दका अर्थ अनिष्पन्नशरीर लिया जावेगा तो पर्याप्तनामकर्मके उदयसे युक्त निर्वृत्त्यपर्याप्तक जीवोंके भी, अपर्याप्त वचनसे ग्रहणका प्रसंग आजायगा। इसीप्रकार पर्याप्त ऐसा कहनेपर पर्याप्तनामकर्मके उदयसे युक्त जीवोंका ग्रहण करना चाहिये। नहीं तो अर्थात् पर्याप्तशब्दका अर्थ निष्पन्न शरीर लिया जायगा तो पर्याप्तनामकर्मके उदयसे युक्त निर्वृत्त्यपर्याप्तक जीवोंका ग्रहण नहीं होगा। तथा—

" अपज्जत्तणामकम्मोदयसहिदपुढवीकाइयादओ अपज्जत्ताति घेत्तव्वा ण अणिप्पण्णसरीरा, पज्जत्तणामकम्मोदयअणिप्पण्णसरीराणं पि गहणप्पसंगादो। तहा पज्जत्तणामकम्मोदयवंतो जीवा पज्जत्ता, अण्णहा णिप्पण्णसरीरजीवाणमेव गहणप्पसंगा "।— द्रव्य० प्र० पे ३३१

अर्थात् अपर्याप्तनामकर्मके उदयसे युक्त पृथिवीकायिकादि जीव अपर्याप्त होते हैं ऐसा अर्थ यहांपर अपर्याप्तशब्दका ग्रहण करना चाहिए, न कि अनिष्पन्न शरीर यह अर्थ। क्योंकि अपर्याप्त-शब्दका अनिष्पन्नशरीर ऐसा अर्थ ग्रहण करनेसे पर्याप्तनामकर्मके उदयसे युक्त अनिष्पन्नशरीरवाले (निर्वृत्यपर्याप्तक) जीवोंकेभी ग्रहणका प्रसंग आजायगा । तथा पर्याप्तनामकर्मके उदयवाले जीव पर्याप्त होते हैं, यह अर्थ पर्याप्त शब्दका लेना चाहिए । अन्यथा यदि पर्याप्तशब्दका निष्पन्नशरीर अर्थ किया जायगा तो निष्पन्नशरीरवाले जीवोंके ही ग्रहणका प्रसंग होगा ।

भगवद्वीरसेनके इन वचनोंपरसे भी इस नतीजेपर पहुंच जाना सहज है कि पर्याप्त शब्दका अर्थ निष्पन्नशरीर और अपर्याप्त-शब्दका अर्थ अनिष्पन्नशरीर नहीं है । अतः पर्याप्त-अपर्याप्त-शब्द शरीरके वाचक नहीं हैं ।•

जो यह कहते हैं कि एकेन्द्रिय पर्याप्त अपर्याप्त आदि और पृथिवीकायादि पर्याप्त अपर्याप्तआदि शब्द द्रव्यशरीरके विवेचक हैं उन्हें कान खड़े करके देखना चाहिए कि ये शब्द द्रव्यशरीरके मुख्यतया विवेचक हैं या जीवोंकेही खास विवेचक हैं।

इसीप्रकार, बादर, सूक्ष्म, प्रत्येकशरीर, साधारणशरीर, एके-न्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पृथिवीकायादि सब जीवोंके सम्बन्धमें समझना चाहिए । ये सब जीव भी अपने अपने नामकर्मोंके उदयसे उक्त प्रकारके होते हैं । अन्य कोईसा भी प्रकार लेने पर इन शब्दोंका वह अर्थ विग्रहगतिमें घटित नहीं

होता है। क्योंकि विग्रहगतिमें इनके किसीके भी शरीर नहीं हैं, लक्षण वह होना चाहिए जो शरीराभाव और शरीरसद्भाव दोनों अवस्थाओं में व्यापक हो। इस विषयमें जिन्हें सन्देह हो वे सर्वज्ञ-प्रतिम भगवद्वीरसेनके वचनोंका बारीकीसे आलोडन कर जावें। उन्हें यथास्थान शंका-समधान पूर्वक इन सबका स्पष्ट उत्तर मिल जायगा। तद्यथा—

" बादरणामकम्मोदयसहिदपुढविकाइयादओ बादरा। थूलस-रीराणं जीवाणं बादरत्तं किण्ण वुच्चदे ? ण, बादरेइंदियओगाहणादो सुहुमेइंदियओगाहणए ' वेदणाखेत्तविहाणादो ' बहुत्तोवलंभा। "

सुहुमणामकम्मोदयसहिदपुढविकाइयादओ जीवा सुहुमा हवंति। थोवसरीरोगाहणाए वट्टमाणा जीवा सुहुमा त्ति ण घेप्पंति, सुहुमेइंदि-यओगाहणादो बादरेइंदिओगाहणाए ' वेदणाखेत्तविहाणसुत्तादो ' थोवत्तुवलंभा। इत्यादि।

लेख बढ़ रहा है इसलिए अन्यजीवोंके सम्बन्धमें प्रमाण नहीं दिये जा सके हैं।

इन जीवोंके शरीर नहीं ही होते हैं यह हम नहीं कहते हैं। कहते यह हैं कि यहां जीवट्ठाणादिकमें शरीरोंकी प्रधानता नहीं है किन्तु तत्तत्प्रकारके जीवोंकी ही प्रधानता है। इसलिए आदिकी चारमार्गणाओंका विवेचन शरीरकी प्रधानतासे है यह अनालोचित कथन है।

———

चतुर्गतिके सम्बन्धमें विशिष्ट विवेचन।

मार्गणाओंमें शरीर या द्रव्यवेदकी सिद्धि आनुषंगिक है। सीधी विधि खास शरीरोको लेकर नहीं है। शरीर जीवोंके पाये जाते हैं, इस कल्पना परसे या आगमान्तरोंके वर्णन परसे शरीर सिद्ध होते हैं, ऐसी सिद्धि प्रयोजनीभूत नही हैं। क्योंकि ऐसी सिद्धिमें मूल सूत्रकारने कोई सदादि कार्यावली नहीं कही है।

शरीर जीवोंके होते अवश्य हैं परन्तु होते हुए भी उनकी यहां न विवक्षा ही है और न कहे ही गये हैं। सत्की भी अविवक्षा हुआ करती है जब कि वह चीज न वहां उपयोगी पड़ती हो और न उससे वहां कोई प्रयोजन ही हो। जैसे—

परमोहि असंखेज्जाणि लोगमेत्ताणि समयकालो दु।
रूवगद लहई दव्वं खेत्तोवमअगणिजीवेहि ॥ १ ॥

इस गाथामें आगत 'समयकालो दु' के सम्बन्धमें एक प्रश्न किया गया है कि '**समयविसेसणं किमट्ठं ?**' अर्थात् कालका समयविशेषण किस लिए दिया गया है? इसका उत्तर दिया गया है कि '**दव्वकालपडिसेहट्ठं**' अर्थात् द्रव्यकालका प्रतिषेध करनेके लिए समय विशेषण दिया गया है। फिर शंका की गई कि '**किमट्ठं दव्वकालपडिसेहो कीरदे ?** अर्थात् द्रव्यकालका प्रतिषेध किस लिए किया गया है? इसका उत्तर दिया गया है कि '**तेणेत्थ पओजणाभावादो**' अर्थात् द्रव्यकालसे यहां कोई प्रयोजन नहीं है।

द्रव्यकाल कोई चीज है यह बात आगमसे सिद्ध है, यहां पर उससे कोई प्रयोजन नहीं है, इसलिए कालके साथ समय विशेषण जोड़कर द्रव्यकालका निषेध कर दिया है । इस सीधी सादी सयुक्तिक बात परसे अन्यत्रोपदिष्ट कालकी यहां सिद्धि करनेके लिए भिड़ पड़ना तो उचित मार्ग नहीं है । कह रहे हैं यहां द्रव्यकालका प्रयोजन नहीं है फिर भी कहते रहना कि नहीं, इन वचनों परसे ही द्रव्यकाल सिद्ध होता है । हम कहते हैं द्रव्य-कालकी सिद्धि कैसे भी होती है, होने दो, परन्तु यहां उससे कोई प्रयोजन नहीं है, फिर भी न मानना द्रव्यकाल सिद्ध होता है द्रव्यकाल सिद्ध होता है यह रटन्त कोई भी लगाये ही जाय तो कोई बुद्धिमानी नहीं है ।

ऐसे ही 'अलोमिका एडका, अनुदरा कन्या' इत्यादि शब्द हैं । जिसके लोम न हो ऐसी भेड़, जिसके उदर न हो ऐसी कन्या, यह इन शब्दोंका अर्थ है । परन्तु ऐसी कोई भेड़ नहीं होती जिसके लोम न हो और ऐसी कन्या भी नही होती जिसके उदर न हो, फिर भी विशेष अपेक्षावश ऐसा कहा जाता है कि लोमरहित भेड़ और उदर रहित कन्या । वह अपेक्षा यह है कि जिस भेड़के कैंचीसे कतरने लायक रोम नहीं हैं और कन्याके गर्भभारवहन योग्य उदर नहीं है । बस, इसी अपेक्षावश भेड़ लोम रहित और कन्या उदर रहित कही जाती है । ऐसे उदाहरण शास्त्रोंमें अनेक भरे पड़े हैं, जो वस्तुरूप होते हुए भी उस उस प्रकरणमें अपेक्षित नहीं हुआ करते हैं । जैसे—

सामीप्याभावाद् द्वित्वानुपपत्तिरिति चेन्न, अन्तरस्य अविवक्षितत्वात्, उपर्युपरि, विजयादिषु द्विचरमाः । एषां पूर्वस्य लाभे उत्तरलाभो भजनीयः । इत्यादि ।

ठीक इसीतरह ससारी जीवोके शरीर आगमान्तरोसे और इसी षटखडागमसे भी पाये जाते है । आगमोमें शरीरोका खूब विस्तारके साथ कथन भी पाया जाता है वे सब शरीर जीवोके ही होते हैं, अजीवोके नही होते । परन्तु वे शरीर यहा मार्गणा प्रकरणमें सिर्फ विवक्षित नहा हैं । क्योकि उनका या उनमें कोई कथन किया नहीं गया है । यहा सिर्फ जीवोके परिणामोका विचार किया गया है । अत जीवपरिणाम ही विवक्षित हैं । शरीर जीवके परिणाम नही हैं । इसलिए शरीर विवक्षित नही हैं । यही बात द्रव्यवेदके विषयमे है । मार्गणाए जीवके औदयिकादि परिणाम हैं । जैसे कि चौदह जीवसमास और चौदह गुणस्थान हैं । शरीर और योनिमेहनादि द्रव्यवेदके उदयसे जीवमें चौदह जीवसमास, चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणाए ये कोई भी नही होते हैं । अत जीवभावप्रकरणमें शरीर और द्रव्यवेद अधिकृत नही हैं । इत्यादि जीवभावोके अनुवादसे मार्गणाए कही गई हैं । शरीर और द्रव्यवेदके अनुवादसे कोई सी भी मार्गणा नहा कही गई है ।

अत आदिके सौ सूत्रोमे गतिया, इन्द्रियजातिया, कायजातिया और योग कहे गये हैं । उनमें गुणस्थान कहे गये है । उन गुणस्थानोमे पर्याप्तिया और अपर्याप्तिया कही गई हैं । इसके

विपरीत सौ सूत्रोंमें न शरीर कहे गये हैं, न शरीरपर्यायें कही गई हैं, न द्रव्यवेद कहे गये हैं, न इनमें गुणस्थान कहे गये हैं और न उनमें पर्याप्तिया और अपर्याप्तिया कही गई हैं। आगेकी मार्गणाओमें भी यही बात है।

अत सोचने समझने विचारनेकी बात है कि द्रव्यशरीर और द्रव्यवेदकी सिद्धि के लिए जो सूत्र दिये गये हैं उनसे न द्रव्यशरीरकी विधि होती है और न द्रव्यवेदकी ही विधि होती है। यष्टि सहचरित पुरुषको जैसे यष्टि कहा जाता है वस्तुत वह यष्टि नही है उसी तरह शरीर सहचरित होनेके कारण जीवोंको शरीर मानलिया है। वस्तुवृत्या, जीवशरीर नही हैं। इसलिए उन सूत्रोंसे वही बात सिद्ध होती है जिसकी सूत्रोंमें विधि है। मार्गणाप्रकरणमे किसीभी मार्गणावाले जीवोंके द्रव्यशरीर और द्रव्यवेदकी सीधी विधि नही कही गई है यह अब भी हम दावेके साथ कहते हैं। सुन लीजिये—

णेरइया मिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता। ७९। सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता। ८०। एवं पढमाए पुढवीए णेरइया। ८१। विदियाए [illegible] सत्तमाए पुढवीए णेरइया मिच्छाइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता [illegible] । ८२ सासणसम्माइट्ठि सम्मामिच्छाइट्ठि - असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता। ८३।

इन पांच सूत्रोंमें नारकी अपने चार गुणस्थानोंमें यथा संभ। पर्याप्त और अपर्याप्त कहे गये हैं। द्रव्यशरीर और द्रव्यवेदवाले नहीं कहे गये हैं। विग्रहगतिमें शरीर बनाने वाली शक्तिकी उनमें पूर्णता नहीं है इसलिए तो वे अपर्याप्त हैं और पर्याप्तनामकर्मका उदय है इसलिए पर्याप्त भी हैं अतः नारकियोंमें यह पर्याप्तता—अपर्याप्तता विग्रहगतिमें भी है जहांपर कि न कोई द्रव्यशरीर है और न कोई द्रव्यवेद है। शरीरशक्तिके पूर्ण हो जाने पर जो पर्याप्तता है वह भी नारक जीवोंमें है। नारकी जीव अपने अन्तर्मुहूर्त कालमें प्रतिक्षण पर्याप्त होते जाते हैं और उस-वक्त उनके साथ साथमें शरीर भी बनता जाता है तो भी पर्याप्ति नामका धर्म जीवमें है, क्योंकि पर्याप्ति जीवविपाकी है, पुद्गलविपाकी नहीं है। भाववेद दोनों ही अवस्थाओंमें विग्रहगतिमें भी कहा गया है। यथा—

णेरइया चदुसु ट्ठाणेसु सुद्धा णउंसयवेदा। १०५।

नारकी अपने चारों गुणस्थानोंमें शुद्ध नपुंसकवेद वाले होते हैं। उनमें और कोई वेद नहीं होता।

यद्यपि नारकोंमें आगमान्तरोके अनुसार द्रव्यवेद भी नपुंसक वेद होता है परन्तु यहां सत्प्ररूपणामें चारित्र मोहके उदय जन्य भावनपुंसक वेद ही कहा गया है। षट्खंडागममें वेदोंका कथन भावापेक्ष है, यह कहा जा चुका है। समन्वयके कर्ता भी वेदप्रकरणको भाववेदका प्रकरण मानते हैं। अतः सिद्ध है कि भाववेद तो नारकियों के सत्प्ररूपणामें कहा गया है परन्तु द्रव्यवेद

कहीं कहा गया है कि योनिमेहनादि नामकर्मके उदयसे द्रव्यवेद होता है और उसमें इतने गुणस्थान होते हैं, इतनी संख्या है, इतना क्षेत्र है, इतना स्पर्श है, इतना काल है, इतना अन्तर है, यह नोआगमजीवभाव है और उसमें इस प्रकार अल्पबहुत्व है। विवक्षा और अविवक्षा सत् में ही होती है, आकाश कुसुमादि असत्में नही होती। अत. अस्तित्व तो द्रव्यवेद का इसीसे साबित हो जाता है। परन्तु उसकी विवक्षासे न गतिमार्गणा होती है और न ही उनके गुणस्थान होते हैं। इसलिए द्रव्यवेदका उदय गतिमार्गणा और उसके गुणस्थानोके होनेमें साधकतम कारण नहीं है। यही द्रव्यवेदकी अविवक्षा है। सारांश षट्खंडागमकारने नारकोंमें भाववेद ही कहा है। द्रव्यवेद नहीं कहा है। इसका कारण यही है कि प्रकरण आत्माके परिणामोंका है। द्रव्यवेद आत्माका परिणाम नहीं है।

तिरिक्खा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता। ८४। सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणेणियमा पज्जत्ता। ८५। एवं पंचिंदियतिरिक्खा पंचिंदियतिरिक्खपज्जत्ता। ८६। पंचिंदियतिरिक्खजोणिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ। ८७। सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ८८ ॥

इन पांच सूत्रोंमें तिर्यंच अपने पांच गुणस्थानोंमें यथा संभव पर्याप्त और अपर्याप्त कहे गये हैं। तिर्यंच भी नारकोंकी तरह ही विग्रहगतिमें पर्याप्त–अपर्याप्त होते हैं। विग्रहगतिमें द्रव्य-वेद तिर्यंचोके भी नही होता है। भाववेद तो उनके विग्रहगतिमें भी होता है। तिर्यचोमें एक अन्तर्मुहूर्तमें आहारकपर्याप्ति और दूसरे अन्तर्हुर्तमें शरीरपर्याप्ति पूर्ण होती है। शरीरपर्याप्तिके पूर्ण होते ही उनके शरीर पूर्ण नही हो जाते हैं। हां, शरीरपर्याप्तिके पूर्ण होने बाद उनमें शरीर बनना प्रारभ होता है जो बहुत लंबे कालमें बनकर तैयार होता है। शरीर बननेसे पहले ही विग्रह-गतिसे ही इनमें तिर्यंच भाव पैदा हो जाता है। विग्रहगतिमें शरीर व द्रव्यवेदके न होते हुए भी तिर्यगति नामकर्मके उदयसे तिर्यंच कहे जाने लगते हैं।

अत शरीर और द्रव्यवेदके विना भी तिर्यंचोका होना अनि-वार्य है। द्रव्यशरीर और द्रव्यवेदसे तिर्यंच नही होते हैं। यदि द्रव्यवेद और द्रव्यवेदसे तिर्यंच होते हो तो मनुष्य भी तिर्यंच हो जाने चाहिएं। क्योकि जो द्रव्यवेद और द्रव्यशरीर तिर्यंचोंमें होता है वही मनुष्योमें होता। इससे मालूम होता है तिर्यंच और मनुष्य होनेमें द्रव्यवेद और द्रव्यशरीर कारण नही हैं। किन्तु अपनी अपनी जीवविपाकी गतियां ही तिर्यंच और मनुष्य होनेमें कारण हैं। तिर्यंचोके सूत्र नं. २६ में पाचगुणस्थान कहे हैं उनमें वे यथासंभव पर्याप्त–अपर्याप्त होते हैं। भाववेद इनमें सामान्यतः इसप्रकार कहा गया है —

तिरिक्खा सुद्धा णवुंसगवेदा एइंदियप्पहुडि जाव चउरिंदियात्ति । १०६ । तिरिक्खा तिवेदा असण्णिपंचिंदियप्पहुडि जाव संजदासंजदात्ति । १०७ ।

दोनो सूत्रोंका भाव यह है कि एकेन्द्रियोको आदिलेकर चौइन्द्रिय तकके तिर्यंच शुद्ध नपुसक लिंगी ही होते हैं और कोई अन्य स्त्री–पुरुषवेदवाले नहीं होते। असज्ञिपचेन्द्रियोको आदि लेकर सयतासयत तक के तिर्यंच तीनो वेदवाले होते हैं । इनमें यह भाववेद ही कहा गया है । यद्यपि दोइन्द्रिय जीवोमे चौइन्द्रिय तक के जीवोके द्रव्यवेद भी नपुसक वेद ही होता है और असज्ञियोसे लेकर सयतासयततकके तिर्यंचोमें तीनो ही द्रव्यवेद होते हैं तो भी षट्खंडागमके उक्त सूत्रों द्वारा इन सब में भाववेद ही कहा गया है । क्योकि '**चारित्तमोहोदएण वेदाणं सरूवं परूवेमो**' ऐसी आचार्य की प्रतिज्ञा है । यदि इसे द्रव्यवेदका कथन माना जायगा तो एकेन्द्रियोके भी द्रव्यवेद कथित हो जायगा जो कि द्रव्यवेद एकेन्द्रियोके होता ही नहीं है ।

तिर्यंचोके पाचभेद हैं, सामान्यतिर्यंच, पचेन्द्रियसामान्यतिर्यंच, पचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यंच, पचेन्द्रियतिर्यंचयोनिनी और पचेन्द्रियतिर्यंच अपर्याप्त । पहला भेद सामान्य है, उसमें एकेन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रियतकके तिर्यंच आजाते हैं । दूसरा भेद पचेन्द्रियसामान्यतिर्यंचोका है, इसमें आगेके तीनो भेद अन्तर्भूत हैं या यो कहिये आगेके तीनो भेदोको मिलाकर पचेन्द्रियतिर्यंच यह एक भेद है । आगेके तीनो भेद स्वतत्र हैं । सामान्यतिर्यंचोमें तीनो ही भाववेद

पाये जाते हैं, क्योंकि इस भेदमें तीनों भाववेदवाले जीव अन्तर्भूत हैं। पंचेन्द्रियसामान्यमें भी तीनों भाववेद हैं, क्योंकि उसमें आगेके तीनों भेद अन्तर्भूत हैं। पंचेन्द्रियपर्याप्तों में पुरुषवेद और नपुंसकवेद एवं दो भाववेद होते हैं और योनिनी में एक भावस्त्रीवेद ही होता है। अपर्याप्तपंचेन्द्रियोंमें एक भाव नपुंसकवेद ही होता है। यथा—

तिरिये ओघो सुर–णर–णिरयाउ उच्च मणुदु हारदुगं।
वेगुव्वच्छक्क तित्थं एमेव....सामण्णे ॥ २९४ ॥

तिर्यंचोंमें गुणस्थानोक्त ही कथन है परन्तु देवायु, मनुष्यायु, नरकायु, उच्चगोत्र, मनुष्यद्विक, आहारकद्विक, वैक्रियिकद्विक, देवद्विक, नरकद्विक और तीर्थंकर इन पन्द्रहका उदय नहीं है। उदययोग्य १२२ में से १५ कम कर देनेपर तिर्यंचगतिमें १०७ प्रकृतियोंका उदय पाया जाता है। इसी प्रकार सामान्यतिर्यंचोंमें जानना चाहिए। इनमें तिर्यंचोके सभी भेद अन्तर्भूत हैं इसलिए किसीमें कोई वेद और किसीमें कोई वेद एवं तीनों भाववेदोंका उदय है।

थावरदुगसाहारणताविगिविगलूण ताणि पंचक्खे।

अर्थात् पंचेन्द्रिय सामान्यमें स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आताप, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति और चतुरिन्द्रियजाति इन आठके बिना उन्हीं प्रकृतियोंका उदय है। इसलिए १०७ में ८ के कमकर देनेसे ९९ प्रकृतियोंका उदय पंचेन्द्रियसामान्यतिर्यंचोंमें है यहांपर भी आगेके तीन भेद अन्तर्भूत हैं इसलिए तीनों ही वेदोंका उदय है।

इत्थि -अपज्जत्तूणा ते पुण्णे उदयपयडीओ ॥ २९५ ॥

पंचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यंचोमें स्त्रीवेद और अपर्याप्तिके विना ९७ वें प्रकृतियोंका उदय है। पंचेन्द्रियतिर्यंचसामान्यमें तीनों वेदोका उदय है और अपर्याप्तिका भी उदय है। पंचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यंचो में उक्त दोका उदय नही है। इसलिए ९९-२=९७ का उदय है। ध्यानमें रहे पंचेन्द्रियपर्याप्तो में स्त्रीवेदका उदय नही है किन्तु पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन दो वेदोंका उदय है।

पुं-संढूणित्थिजुदा जोणिणिये अविरदे ण तिरयाणू।

पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिनियोमें पुरुषवेद और नपुंसकवेदका उदय नही है इसलिए इन दो को ९७ वेंमें से कम करके एक स्त्रीवेद वेद मिलाया तो ९७-२=९५+१=९६ छ्यानवें प्रकृतियोका उदय पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिनियोमें है। इन छ्यानवेंमें पुरुषवेद और नपुंसकवेद नही है, स्त्रीवेद ही है। इससे मालूम पड़ता है योनिनियोंमें भी एक स्त्रीवेदका ही उदय है। इसके चौथे गुणस्थानमें तिर्यगानुपूर्वीके उदयका भी निषेध कर दिया है इसलिए चौथे गुणस्थानमें योनिनियां उत्पन्न नहीं होती हैं अत. उपर्युक्त सूत्र नं. ८७-८८ के अनुसार योनिनिया पहले दूसरे गुणस्थानमें पर्याप्त-अपर्याप्त दोनों तरहकी होती हैं और तीसरे चौथे और पांचवें गुणस्थानमें पर्याप्त ही होती हैं। ये योनिनियां भी भावयोनिनियां कही गई हैं।

पुण्णिदरे थी-थीणति-परघाददु-पुण्ण-उज्जोवं ॥२९६॥

सर-गदिदु-जसादेज्जं आदीसंठाणसंहदीपणगं।

सुभगं सम्मं मिस्सं हीणा ते पुण्ण-संढजुदा ॥ २९७ ॥

लब्ध्यपर्याप्तकपंचेन्द्रियतिर्यंचोंमें स्त्रीवेदादि २७ कम होजाती हैं और नपुंसकवेद व अपर्याप्ति बढ़ जाती है इसलिए इनमें ९६–२७=६९+२=७१ प्रकृतियोंका उदय है। यहां स्त्रीवेद कम करके नपुंसकवेद मिलाया है इसलिए इनके एक नपुंसकवेदका ही उदय है।

धवलामेंभी इन भेदोंमें क्रमशः ३–३–२–१–१ वेदोंका उदय विंशतिप्ररूपणामें कहा है। उन सबका यहांपर उल्लेख करनेसे लेख बढ़ता है अतः धवलाका मुद्रित द्वितीयखंड देख लेवें। तथा द्रव्यप्रमाणानुगमनामके तृतीयखंडके सूत्र नं. ३३ में भगवद्वीरसेन कहते हैं कि '**जोणिणीणिद्देसो पुरिस–णवुंसयलिंगवुदासट्ठो**' अर्थात् सूत्रमें जो पंचिंदियतिरिक्खजोणिणीसु पद है उसमें योनि-नीपदकानिर्देश पुरुषवेद और नपुसकवेदके व्युदासार्थ किया गया है। इन सब प्रमाणोसे ज्ञात होता है कि पंचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यंचोंमें पुरुषवेद और नपुंसकवेदका और पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिनियोंमें स्त्रीवे-दका ही उदय है। द्रव्यवेद इनमें कौनसा है यह जरा टेढ़ी खीर है। यह निश्चित है कि 'पाएण समा कहिं विसमा' इस गोम्मटगा-थांश के अनुसार कर्मभूमिके तिर्यंच–मनुष्योंमें द्रव्यभाव वेद सम–विषम होते हैं। सूत्रकार तो द्रव्यवेदका नाम भी जबान पर आने नहीं देते हैं। परन्तु ग्रन्थान्तरोंका द्रव्यवेद विषयक कथन भुलाया नहीं जा सकता। 'पाएण समा कहिं विसमा' इसके अनुसार जो द्रव्यसे स्त्रीवेदी है वह भावोंसे तीनों वेदी है, जो द्रव्यसे पुरुषवेदी

है वह भावोंसे तीनों वेदी है और जो द्रव्यसे नपुंसकवेदी है वह भावोंसे तीनों वेदी है अथवा यों कहें जो भावसे स्त्रीवेदी है वह द्रव्यसे तीनों वेदी है, जो भावसे पुरुषवेदी है वह द्रव्यसे तीनों वेदी है और जो भावसे नपुंसकवेदी है वह द्रव्यसे तीनों वेदी है। तिर्यंचसामान्यमें और पंचेन्द्रियसामान्यमें तीन तीन द्रव्य-भाववेद हैं उक्त कथनानुसार ९ द्रव्यवेद और नौ ही भाववेद हो जाते हैं। पर्याप्तपंचेन्द्रियतिर्यंचों में दो भाववेद हैं एक एकके साथ तीन तीन द्रव्यवेद हैं या तीन द्रव्यवेदोंके साथ पुरुष-नपुंसक दो दो भाववेद हैं। एवं दोनों ही छह छह प्रकार के हो जाते हैं। योनिनी में एक भाववेद है उसमें तीन द्रव्यवेद हैं या तीनो द्रव्यवेदोंमें एक भाववेद है। इस हिसाबसे हम तो आगम विरुद्ध यह नहीं कह सकते कि पर्याप्तपंचेन्द्रियतिर्यंचके एक द्रव्यपुरुषवेद ही होता है और योनिनीके एक द्रव्यस्त्रीवेद ही होता है। आगमविरुद्ध कहने और बोलने का साहस हमारे में नहीं है। यह साहस द्रव्यवेदियोंमें अवश्य पाया जाता है। प्रमाणके लिए उनका ट्रेक्ट देख जाइये।

धवलाकार सूत्र नं. ८७ जो ऊपर दिया गया है उसकी अवतरणिका लिखते हैं। '**स्त्रीवेदविशिष्टतिरश्चां विशेषप्रतिपादनार्थमाह**' अर्थात् स्त्रीवेदसे विशिष्ट तिर्यंचोंके विशेष प्रतिपादनके लिए कहते हैं। धवलाकारने स्त्रीवेदसे विशिष्ट तिर्यंच पद दिया है, तिरश्ची नहीं दिया है इसलिए ये तिर्यंच द्रव्यतः पुरुषवेदी भी हैं जो स्त्रीवेदके उदयसे युक्त हैं उनको ही यहां भावस्त्रीवेदसे विशिष्ट कहा है। ऐसे भावस्त्रीवेद वाले और द्रव्यतः

पुरुषवेदवाले तिर्यंच पुरुष भी पहले दूसरे गुणस्थानमें जन्म लेते हैं अतः वे इन दो गुणस्थानों में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं। शेष तीन गुणस्थानों में पर्याप्त ही होते हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि जिनके स्त्रीवेदका उदय है और द्रव्यसे पुरुषवेदी होनेवाले हैं वे भी चतुर्थ गुणस्थानमें जन्म नहीं लेते हैं अतः ऐसे तिर्यंचोंका अन्तर्भाव पर्याप्तपंचेन्द्रियतिर्यंचों में नहीं होता है। जो जीव द्रव्यस्त्रियां और द्रव्यनपुंसकवेदी होनेवाले हैं जिनके कि स्त्रीवेदका उदय है वे भी चतुर्थगुणस्थानमें जन्म नहीं लेते हैं। मिथ्यात्व या सासादनमें जन्म लेने के बाद स्त्रीवेदके उदयसे विशिष्ट तीनों ही द्रव्यवेदी तिर्यंच यदि गर्भजसंज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं तो गर्भसे निकलनेके बाद दिवस पृथक्त्वके ऊपर ही सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं, पहले नहीं, इसलिए तीसरे, चौथे और पांचवें गुणस्थानमें वे पर्याप्त ही होते हैं या पर्याप्तकों में ही ये तीनों गुणस्थान होते हैं। इससे यह आया कि स्त्रीवेदके उदयसे युक्त तीनों द्रव्यवेदवाले जीव होते हैं उन्हीं को पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिनिया कहते हैं। केवल द्रव्यस्त्रीवेदवाले तिर्यंच ही योनिनीशब्दके वाच्यार्थ नहीं हैं। किन्तु तीनों द्रव्यवेदवाले तिर्यंच योनिनीशब्दके वाच्यार्थ हैं। इसलिए योनिनीशब्दका अर्थ केवल द्रव्यस्त्री तिरश्ची नहीं है किन्तु स्त्रीवेदके उदयसे विशिष्ट तिर्यंच, योनिनीशब्दका अर्थ है। ऐसा शास्त्रान्तरके आधारसे निश्चित होता है।

इससे तिर्यंचोंके द्रव्यशरीर या द्रव्यवेद सिद्ध होता है इत्यादि प्रत्येक प्रकरणमें लिखते बैठना अनोखी बात है। जब कि तिर्यंचोंके औदारिक शरीर होता है उसकी सिद्धिके लिए विपरीत पसीना बहाना कहां तक ठीक है। शास्त्राधारसे यह साबित करी जिये पर्याप्तपंचेन्द्रियतिर्यंचोंके द्रव्यवेद पुरुषवेद ही होता है। यह सिद्ध किये विना इष्ट सिद्धि कथमपि नहीं हो सकेगी। अतः बेहतर है कि तिर्यंचोंके पाचों भेदोंको भी द्रव्यापेक्ष न मानकर भावापेक्ष ही माना जाय। है भी भावापेक्ष ही, जब कि सभी मार्गणाएं भावमार्गणाएं हैं, तिर्यग्गतिनामकर्मके उदयसे तिर्यंचोंमें तिर्यग्भाव पैदा होता है, इसी भावका नाम तिर्यग्गतिमार्गणा है। शरीरनामकर्मके उदयसे तिर्यग्भाव पैदा नहीं होता हैं। इसलिए शरीर तिर्यग्गतिमार्गणा नही है। आगेकी सब मार्गणाएं भी तिर्यं-चजीवोंके होती हैं इसलिए उनमें उन भावमार्गणाओंकी अपेक्षा भेद होता हुआ चला गया है। अत. वे भेद भी भावरूप हैं। पर्याप्तियां और अपर्याप्तियां इन चौदह भावोंमें नहीं हैं। वे जुदा भाव हैं जो इन तिर्यंच जीवोंमें पाया जाता है जिससे ये चौदह मार्गणा चौदह जीवसमास और पाच गुणस्थानवाले भावतिर्यंच जीव पर्याप्त और अपर्याप्त बोले जाते हैं। तिर्यंचोमें द्रव्यवेद होता है और किनके कौनसा द्रव्यवेद होता है यह षट्खंडागमसे निश्चित नही होता है। द्रव्यवेद इनके होता ही नहीं है, यह हम नहीं कहते हैं। कहते यह है कि षट्खंडागममें द्रव्यवेदकी अपेक्षासे कोई कथन नही है। एकेन्द्रियजीव भी पर्याप्त-अपर्याप्त होते हैं

परन्तु उनके द्रव्यवेद होता ही नहीं है। अतः पर्याप्त—अपर्याप्त शब्दोंपरसे द्रव्यवेद सिद्ध नहीं होता है। होता है तो एकेन्द्रियोंके भी द्रव्यवेद सिद्ध हो जायगा जोकि आगममें कहा ही नहीं गया है। इस आगम विरुद्धता पर भी अवश्य ख्याल करना चाहिए।

मनुष्यगतिमें भी यही बात है। मनुष्योंके एक मनुष्यगतिका उदय है। उसकी अपेक्षा वे मनुष्य होते हैं। मनुष्योंके चार भेद हैं मनुष्यसामान्य, पर्याप्तमनुष्य, मानुषीमनुष्य और अपर्याप्तमनुष्य। पहला भेद सामान्य है इसमें तीनों वेदोंका उदय है। पर्याप्त मनुष्योंमें मानुषीमनुष्योंका अन्तर्भाव होते हुए भी स्त्रीवेद के उदयके नाते वे पर्याप्त मनुष्योंसे जुदे होगये हैं। जहां दोनोंके कथनमें भेद नहीं है वहां तो मानुषीमनुष्य पर्याप्तमनुष्योंमें जा मिलते हैं। इसलिए सामान्यतः तीनों वेदोंका उदय पर्याप्तमनुष्यों में भी आजाता है। परन्तु जहां स्त्रीवेदके उदय के नाते जो कोई कथन इन्हें इष्ट नहीं वहां ये मानुषी मनुष्य अपने वेदको लेकर पर्याप्तमनुष्योंसे लड़ भिड़कर जुदे हो जाते हैं। उस वक्त पर्याप्त मनुष्योंमें भावपुरुषवेद और भावनपुंसकवेद ये दो ही भाववेद पाये जाते हैं और मानुषीमनुष्योंमें एक भावस्त्रीवेद ही पाया जाता है। सूत्र नं. ९१ के द्वारा मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थान कहे गये हैं वहां तो मनुष्य, पर्याप्तमनुष्य और मानुषीमनुष्य तीनोने मनुष्यगतिके नाते मेल जोल कर लिया है परन्तु जहां इनके इन गुणस्थानोंमें पर्याप्तता—अपर्याप्तताका अवसर आया वहां ही ये मानुषीमनुष्य मनुष्यगतिके होते हुए भी भावस्त्रीवेदकी लज्जा रखनेके लिए पर्याप्तमनुष्योंसे

जुदा हो गये। पर्याप्तमनुष्योंसे इनने कह दिया कि चौदह गुण-स्थानोंके अस्तित्व कहनेके वक्त तुम्हारा हमारा मेल जोल था, यहां पर्याप्तियोंके सम्बन्धमें तुम्हारा हमारा मेल जोल नहीं रह सकता। यहां तुम चौथे गुणस्थानमें भी उत्पन्न होने जा रहे हो। हमें यह बात इष्ट नहीं है। ऐसा कहकर मानुषीमनुष्य पर्याप्तमनुष्योंसे अपनी जुदाई कर लेते हैं। तद्यथा—

मणुस्सा मिच्छाइट्ठि–सासणसम्माइट्ठि–असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता। ८९। सम्मामिच्छाइट्ठि–संजदासंजद–संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता। ९०।

अर्थ स्पष्ट है कि मनुष्य, मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन पहले दूसरे और चौथे गुणस्थानोंमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं क्योंकि मिथ्यात्वादि तीन भावोंसे युक्त हुए वे इन गुणस्थानोंमें जन्म, लेते हैं उसवक्त अन्तर्मुहूर्त तक अपर्याप्त होते हैं। पर्याप्तकोंके भी ये गुणस्थान होते हैं इसलिए इन गुणस्थानोमें पर्याप्त भी होते हैं। दूसरे सूत्रका अर्थ है कि वे ही मनुष्य सम्यग्मिथ्यात्व, संयतासंयत और नौ संयतस्थानोमें पर्याप्त ही होते हैं। क्योंकि इन गुणस्थानोंके भावों को लेकर कोई भी जीव जन्मता नहीं है। इसलिए अपर्याप्त अवस्थामें ये गुणस्थान मनुष्योंके नहीं होते हैं। जो मनुष्य पूर्वोक्त तीन गुणस्थानोंमें जन्मते हैं, वे पर्याप्तियोंसे पूर्ण तो अन्तर्मुहूर्तके बाद ही हो जाते हैं। शरीर उनका लंबे कालमें बनकर तैयार होता है। अतः गर्भमें आनेके बाद स्राव–पातको छोड़कर सातवें

महीनेसे उदरसे बाहर वे अपने शरीरको पूर्णकर आने लगते हैं उसके बाद आगमोक्त कालके अनन्तर उनमें ये गुणस्थान होते हैं अतः कहा गया कि तीसरा, पाचवा और षष्ठादि गुणस्थानोंमें मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं।

एवं मणुसपज्जत्ता । ९१ ।

इसका भाव यह है कि जिसप्रकार मनुष्य पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं तथा तीसरे, पाचवें और षष्ठादि नौ संयतस्थानोमें पर्याप्त ही होते हैं उसीतरह पर्याप्तमनुष्य भी पहले, दूसरे और चतुर्थगुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं तथा तीसरे, पाचवें और षष्ठादि नौ संयतस्थानोमें पर्याप्त ही होते हैं।

यहां टीकामें एक शका उठाई गई है कि जब इनका नाम मनुष्यपर्याप्त है तब इनको पहले दूसरे गुणस्थानोमें अपर्याप्त कहना सरासर विरोध है इसलिए ' एवं मणुसपज्जत्ता ' यह कहना कैसे घटित होता है ? आचार्य कहते है यह दोष नहीं है। क्योंकि शरीरपर्याप्तिकी अनिष्पत्ति अर्थात् अपूर्णताकी अपेक्षा मनुष्य अपर्याप्त कहे गये हैं जब मनुष्यपर्याप्त, शरीरपर्याप्तिकी अपूर्णताकी अपेक्षा अपर्याप्त हैं तब उनको पर्याप्त कैसे कहा गया ? उत्तर देते हैं—नहीं, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा उन्हें पर्याप्त कहा गया है। जैसे ' भात पक रहा है यहा पर चावलोंको ही भात कह दिया जाता है, वस्तुवृत्या पचन अवस्थामें चांवल ही हैं भात नहीं है उसीतरह शरीरपर्याप्तिकी अपूर्णताअवस्थामें भी यहां पर

पर्याप्तत्व्यवहार विरोधको प्राप्त नहीं होता है। अथवा पर्याप्तनामकर्मका मनुष्यपर्याप्तोंके उदय है इस अपेक्षासे उनमें पर्याप्तता है। इसीप्रकार पंचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यंचोंमें भी कहना चाहिये। यथा—

पर्याप्तेषु नापर्याप्तत्वमस्ति विरोधात्। तत एवं पञ्चत्वा इति कथमेतद्घटते इति? नैष दोषः, शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया तदुपपत्तेः। कथं तस्य पर्याप्तत्वं? न, द्रव्यार्थिकनयाश्रयणात्। ओदनः पच्यत इत्यत्र यथा तन्दुलानामेवौदनव्यपदेशस्तथाऽपर्याप्तावस्थायामप्यत्र पर्याप्तव्यवहारो न विरुध्यत इति। पर्याप्तनामकर्मोदयापेक्षा वा पर्याप्तता। एवं तिर्यक्ष्वपि वक्तव्यं।

शरीरनिष्पत्तिका अर्थ द्रव्यपक्षी शरीरकी अपूर्णता अर्थ करते हैं। वह ठीक नहीं है। शरीर तो मनुष्योंमें ७—८—९ महीनेमें बनकर पूर्ण होते हैं तब तक क्या अपर्याप्त ही बने रहते हैं। यदि अपर्याप्त ही बने रहते हैं तो जो सातों पृथिवीके नारकी और भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्मैशानकल्पवासी देव इनमें आकर उत्पन्न होते हैं उनका जघन्य अन्तर्मुहूर्तप्रमाण अन्तरकाल कैसे भी नहीं बनेगा। क्योंकि अन्तर्मुहूर्तमें किसी भी मनुष्यके शरीर बनकर तैयार नहीं होता है। शरीरके पूर्ण बने विना अन्तर्मुहूर्तके भीतर भीतर नरकगति और देवगति सम्बन्धी आयु भी नहीं बांध सकेंगे, क्योंकि अपर्याप्त अवस्थामें नरक और देवायुका बन्ध नहीं होता है। अतः यह एक भारी विरोध आता है। यह

विरोध जब ही मिट सकता है कि शरीरनिष्पत्तिका अर्थ शरीरकी पूर्णता न किया जाय किन्तु शरीरपर्याप्तिकी पूर्णता किया जाय। शरीरपर्याप्ति उस बृहत् अन्तर्मुहूर्तके अनेक विकल्पोंमें से दूसरे विकल्पमें ही पूर्ण होजाती है उसके पूर्ण होते ही वह जीव जहांसे आया है वहांकी आयु अवशिष्टकालकी त्रिभागीमें बांधकर आबाधा कालके पूर्ण होते ही वहीं जा पहुंचता है। इतने से समयमें वह जीव माता—पिता के राजोवीर्य से लिप्त होनेके सिवा कैसे भी शरीर पूर्ण नहीं कर पाता है। शरीरपर्याप्तिको वह जीव अवश्य पूर्ण कर लेता है। अतः इस दोषसे बचने के लिए शरीरानिष्पत्ति का अर्थ शरीरपर्याप्तिकी अपूर्णता और शरीरनिष्पत्तिका अर्थ शरीरपर्याप्तिकी पूर्णता, शरीरबनानेवाले कारणोंकी पूर्णता या शरीरबनानेवाली शक्तिकी पूर्णता इत्यादि किया जाय। खैर, उक्त शंकाके समाधानसे द्रव्यशरीरकी सिद्धि नहीं होती है यह निश्चित है। जहां जहां भी पर्याप्तियोंको लेकर शरीरोंके सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई है उन सब का परिहार उपर्युक्त कथनसे हो जाता है।

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ। ९२।

अर्थात् मनुषिणियोंकी अपेक्षा कहते हैं कि मनुषिणियां मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानोंमें पर्याप्त भी होती हैं और अपर्याप्त भी होती हैं।

अर्थात् मनुषिणियोंकी अपेक्षा कहते हैं कि मानुषीमनुष्य मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानोंमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।

यह मानुषीमनुष्य पर्याप्तमनुष्योंका एक भेद है । इसलिए इनके साथ भी पर्याप्त शब्द लगा हुआ है । अतः धवलाकार कहते हैं—मनुषिणियोंमें भी पर्याप्तमनुष्योंकी भांति अपर्याप्त मनुषिणियोंके पर्याप्तव्यवहारका प्रवर्तन करना चाहिये । अथवा सूत्रमें पड़ा हुआ स्यात्पद निपात रूप है जिसका अर्थ कथंचित् होता है उसके अनुसार मनुषिणियां पर्याप्तकर्मके उदयसे अथवा शरीरपर्याप्तिकी पूर्णताकी अपेक्षासे कथंचित् पर्याप्त होती हैं और शरीरपर्याप्तिकी अपूर्णताकी अपेक्षा कथंचित् अपर्याप्त होती हैं । यथा—

अत्रापि पूर्ववदपर्याप्तनां पर्याप्तव्यवहारः प्रवर्तयितव्यः अथवा स्यादित्ययं निपातः कथंचिदित्यस्मिन्नर्थे वर्तते । तेन स्यात्पर्याप्तता पर्याप्तनामकर्मोदयाच्छरीरनिष्पत्त्यपेक्षया वा । स्यादपर्याप्तता शरीरनिष्पत्त्यपेक्षयेति वक्तव्यं ।

यहां पर भी शरीरनिष्पत्ति और शरीरानिष्पत्तिका अर्थ वही है जो ऊपर किया गया है । अन्यथा जो दोष पर्याप्तमनुष्यके सम्बन्धमें बताया गया है वह यहां भी अनिवार्य होगा कि इन शब्दोंका अर्थ शरीरकी पूर्णता एकान्तसे किया जायगा तो अन्तमुर्हूर्त प्रमाण अन्तरकाल घटित नहीं होगा । खैर, क्या आगममें इन सब जीवोंके शरीरोंका विधान करनेवाला और कोई आगमवाक्य नहीं है । जिससे इन शब्दोंपरसे गुलामझांपड़ी खेलनी पड़ती है । हम कहते हैं विग्रहगतिको छोड़कर सब संसारी जीवोंके शरीर हैं, शरीर हैं, शरीर हैं । शरीरमें तीन द्रव्यवेद

होते हैं उनमेंसे मनुषिणीके द्रव्यस्त्रीवेद ही होता है यह कैसे ? जब कि एक भाववेदके साथ तीन तीन द्रव्यवेद जुड़े हुए हैं।

मनुष्यसामान्यमें तीनों वेदोंका पर्याप्तमनुष्यों में मानुषीको जुदा कर देनेपर दोवेदोंका और मानुषीके एकही वेदका उदय पाया जाता है। यथा—

मणुवे ओघो थावर-तिरियादावदुग-एय-वियलिंदी-
साहारणिदराउतियंवेगुव्वियछक्कपरिहीणो ॥ २९८ ॥
मिच्छमपुण्णं छेदो अणमिस्सं मिच्छगादितिसु अयदे ।
विदियकसाय-णराणू दुब्भगणादेज्ज-अज्जसयं ॥ २९९ ॥
देसे तदियकसाया णीचं एमेव मणुससामण्णे ।
पज्जत्ते वि इत्थीवेदापज्जत्तिपरिहीणो ॥ ३०० ॥
मणुसिणिए थीसहिदा तित्थयराहार-पुरिस-संढूणा ।
पुण्णिदरेव अपुण्णे सगाणुगदिआउगं णेयं ॥ ३०१ ॥

—गो० कर्मकांड.

मनुष्यगतिमें गुणस्थानोंकी तरह ही उदयका कथन है परन्तु स्थावरद्विक, तिर्यग्द्विक, आतापद्विक, एकेन्द्रियजाति, विकलत्रयजाति तीन, साधारण, मनुष्यआयुके विना इतर तीन आयु और वैक्रियिकषट्क इन २० का उदय नहीं है। इसलिए उदय प्रकृति १२२ में से २० कम कर देने पर मनुष्यगतिमें १०२ प्रकृतियों का उदय है। इनमें से मिथ्यात्वगुणस्थानमें मिथ्यात्व और अपर्याप्तिकी व्युच्छित्ति होजाती है, सासादनमें अनंतानुबन्धी के उदयकी

व्युच्छित्ति हो जाती है, मिश्रमोहनीयकी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्था-
नमें उदयव्युच्छित्ति होजाती है, असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें
अप्रत्याख्यानावरण चार, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय और
अयशस्कीर्ति ये आठ उदयसे व्युच्छिन्न होजाती हैं। देशसंयतमें
प्रत्याख्यान चार और नीचगोत्रका उदय नष्ट होजाता है। बाकी
षष्ठादि गुणस्थानोंमें गुणस्थानोक्त कथन है। ऐसा ही मनुष्यसा-
मान्यमें है। ख्याल रहे मनुष्य सामान्यमें तीनों वेदोंका उदय है।
मनुष्यपर्याप्तमें भी इसी प्रकार है परन्तु स्त्रीवेद और अपर्याप्तका
उदय नहीं है इसलिए १०२ में से इन दोको कमकर देने पर
१०० का उदय मनुष्यपर्याप्तमें है। यहां स्त्रीवेदका उदय नहीं
है शेष दोवेदोंका उदय है। यह सब कथन नानाजीवापेक्ष है।
इसलिए एक ही जीवमें दोनो वेदोंका उदय नहीं है। मनुषिणीमें
१०० मेंसे तीर्थंकर, आहारकद्विक, पुरुषवेद और नपुंसकवेद एवं
पांच कम करके स्त्रीवेदके जोड़ देनेपर ९६ वें प्रकृतियां उदयापन्न
हैं। मनुष्यपर्याप्तमें इन पांचका उदय है वह कम किया गया
और स्त्रीवेदका उदय नहीं था वह यहां जोड़दिया गया। बाकी
सब कथन चौदह गुणस्थानोंमें मनुष्य पर्याप्तवत् है। फिर भी
विशेषता है। मनुष्यपर्याप्तके चौथे गुणस्थानमें मनुष्यानुपूर्वीका
उदय है। मनुषिणीके चौथे गुणस्थानमें मनुष्यानुपूर्वीका उदय
नहीं है। यथा—

अयदापुण्णे ण हि थी संढो वि य घम्मणारयं मुच्चा।
थीसंढयदे कमसो णाणुचऊ चरिमतिण्णाणू॥ २७॥

चौथे गुणस्थानमें अपर्याप्त अवस्थामें स्त्रीवेदका और घम्मा-नामकी पृथिवीको छोड़कर नपुंसकवेदका उदय नहीं है। इस कारण स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके उदययुक्त असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्रमशः चारों आनुपूर्वियोंका और नरकानुपूर्वीको छोड़कर शेष तीन आनुपूर्वियोंका उदय नहीं है।

विशेषता यह समझना चाहिए कि देवांगनाओंके चौथे गुण-स्थानमें देवानुपूर्वीका उदय नहीं है, मनुषिणियोंके इसी असं-यत स्थानमें मनुष्यगत्यानुपूर्वीका उदय नहीं है और योनि-नियोंके इसी असंयतगुणस्थानमें तिर्यगानुपूर्वीका उदय नहीं है। आनुपूर्वियां क्षेत्रविपाकी हैं, उनका उदय विग्रहगतिमें ही होता है। स्त्रीवेदका उदयवाला जीव सम्यक्त्वको साथ लेकर आता नहीं है इसलिए स्त्रीवेदके उदयवाले जीवके चौथे गुणस्थानमें आनुपूर्वियोंका उदय है ही नहीं। नपुंसकवेदका उदयवाले जीवके नरकानुपूर्वीका उदय तो चौथे गुणस्थानमें है परन्तु मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी नपुंसकवेदके उदयवाले जीवके चौथे गुणस्थानमें किसी भी आनुपूर्वीका उदय नहीं है।

अपर्याप्त मनुष्योंमें अपर्याप्तपंचेन्द्रियतिर्यंच के समान ७१ प्रकृतियोंका उदय है। विशेषता इतनी ही है कि अपर्याप्त-पंचेन्द्रियतिर्यंचके अपनी आनुपूर्वी, गति और आयुका उदय है और अपर्याप्तमनुष्यके अपनी आनुपूर्वी, गति और आयुका उदय है।

पाठकवर्ग इस कथनपरसे सदाशयपर पहुंच गये होंगे कि मनुष्यसामान्यमें तीनो वेदोंका, मनुष्यपर्याप्तमें स्त्रीवेदको छोड़कर पुरुषवेद और नपुंसकवेद ऐसे दो वेदोंका और मानुषीमनुष्यमें एक स्त्रीवेदका ही उदय है। फलितार्थ यह हुआ कि स्त्रीवेदका उदयवाला मनुष्यगतिका जीव ही मानुषीमनुष्य है। गोम्मटसारके टीकाकार मानुषीशब्दका अर्थ मानुषीमनुष्य करते हैं और इनके बंध उदय और सत्त्वका चौदह गुणस्थानोंमें कथन करते हैं। इनके उदय योग्य प्रकृतियोंमें पर्याप्तनामकर्मका उदय कहा गया है इससे ये मानुषियां पर्याप्त भी होती हैं द्रव्यवेदियोंके नियमानुसार पर्याप्तशब्दसमन्वित होनेसे क्या इनको द्रव्यस्त्री मान लिया जाय? जिस मनुष्यके स्त्रीवेदका उदय नहीं है वह मानुषी भी नहीं है। मानषीमनुष्यके अपर्याप्तअवस्थामें सम्यक्त्व भी नहीं है, उसका अभाव आनुपूर्वीके निषेध परसे ही स्पष्ट हो जाता है। स्त्रीवेदका उदयवाला जीव वह चाहे तिर्यंच हो, चाहे मनुष्य हो, चाहे देवांगना हो, द्रव्य—भाव कोई भी चौथे असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें जन्मग्रहण ही नहीं करता है। जो यह कहते हैं भावस्त्रीके अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान होता है उनके पास वावदूकताको छोड़कर कोई प्रमाण नहीं। आगे भी हम इस विषयको लिखेंगे।

सम्मामिच्छाइट्ठि–असंजदसम्माइट्ठि–संजदासंजद–संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ। ९३।

यह पाठ प्राचीन तालपत्रीय प्रतिके अनुसार लिखा गया है। इसका अर्थ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयतस्थानमें मनुषिणियां पर्याप्त ही होती हैं। इन चारोंही स्थानोंमें स्त्रीवेदका उदयवाला कैसा भी जीव आकर उत्पन्न नहीं होता है। पहले दूसरे गुणस्थानमें ही वह उत्पन्न होता है। उत्पन्न हो चुकनेके बाद कितनेही काल पीछे, कमसेकम योनि निष्क्रमण जन्मके आठ वर्षके अनन्तर उसके ये चार स्थान होते हैं यदि होवें तो, नियम नहीं है कि होवें ही। परन्तु जब भी किसी स्त्रीवेदीके होंगे तब पर्याप्तके ही होंगे, अपर्याप्तके नहीं।

सूत्र नं. २७ में मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंका सत्त्व कहा गया है उनमें मनुष्य यथासंभव पर्याप्त–अपर्याप्त होते हैं यह ऊपर कहा जा चुका है। भाववेद सामान्यतः इसप्रकार कहा गया है।

मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि-त्ति। १०८। तेण परमवगदवेदा चेदि। १०९।

मिथ्यादृष्टियोंको आदि लेकर अनिवृत्ति तक के मनुष्य तीनों वेदवाले होते हैं इससे ऊपर अपगतवेदवाले होते हैं। यह सूत्रोंका सामन्य अर्थ है। यह वेदोंका भावाभाव मनुष्यमार्गणामें कहा गया है। धवलाकार ' मनुष्यादेशप्रतिपादनार्थं आह ' ऐसी अवतरणिका लिखते हैं–इसका अर्थ मनुष्यमार्गणामें वेदोंका प्रतिपादन करनेके लिए सूत्र कहते हैं–यह होता है। यह भी भाववेदका विधान है। क्योंकि अनिवृत्ति तक तीनों भाववेद होते हैं, तीनों द्रव्यवेद नहीं होते। अनिवृतिसे ऊपर जीव अपगतवेद होते हैं। अपगत-

वेद नाम वेदसे रहित होनेका है। नौवेंसे ऊपर जीव भाववेदसे रहित होते हैं। क्योंकि द्रव्यवेद तो चौदहवें तक होता है परन्तु भाववेद नौवेंसे ऊपर नहीं होता है। यह भाववेद पहले की चार मार्गणावालोंके और आगेकी नौमार्गणावाले मनुष्य जीवोंके ही पाया जाता है। द्रव्यवेद भी प्रायः कतिपय मार्गणावालोंके हो सकता है परन्तु षट्खंडागमकारने उसको छोड़ दिया है। क्यों छोड़ दिया है इसविषयमें सिवा भावप्रकरणके और कोई हेतु दृष्टिगत ही नही होता है। क्योंकि वेदसम्बन्धी कार्यावली द्रव्यवेदमें घटित नहीं होती है।

द्रव्यपक्षी विद्वान् कल्पित कल्पनासे इतना तो कहते हैं कि इससे द्रव्यशरीर और द्रव्यवेद सिद्ध होता है परन्तु वस्तुवृत्या वे अब तक इस कल्पनाके सिवा सूत्रोंसे भाववेदकी तरह द्रव्यवेदकी विधि नही कर सके हैं। यदि वे द्रव्यवेदको सीधी विधि बतादें तो सब टंटा सहजमें ही मिट सकता है। द्रव्यपक्षियोंके पास ऐंचातानके सिवा सीधी विधिका कोई साधन नहीं है। इसी लिए उन्हें स्थान स्थान पर कहना पड़ता है कि इससे यह सिद्ध होता है। सीधी विधि उनके पास होती तो ऐसा कहनेकी जरूरत ही नहीं रहती। अतः यह निश्चित है कि षट्खंडागमके अनुसार सीधी विधि द्रव्यवेदके सम्बन्धमें उनके पास भी नहीं है।

सूत्र ९३ वें में से संजद शब्दको निकलवानेके लिए द्रव्यपक्षियोंने 'श्रीगणेशाय नमः' का अर्थ गुड़धानी जैसा बता दिया है कि यह सब द्रव्यवेद या द्रव्यशरीरके सम्बन्धसे कहा गया है।

'श्रीगणेशाय नमः' का अर्थ गुड़धानी सिद्ध हो जाय तो मार्गणाओंका अर्थ भी द्रव्यवेद या द्रव्यशरीर सिद्ध हो सकता है।

नं. ९१ वें सूत्रमें आगत पर्याप्तमनुष्यके द्रव्यवेद पुरुषवेद ही होता है और नं. ९२-९३ सूत्रमें आगत मनुषिणीका अर्थ द्रव्यस्त्री ही होता है। इसके लिए आधारकी आवश्यकता है, युक्तियोंकी आवश्यता नही है। क्योकि वे युक्तियां आगमके वर खिलाफ जाती हैं। यह याद रखनेकी बात है जो द्रव्यवेद मनु-मनुष्यपर्याप्त और मनुषिणीके यहा नं. ९१-९२ में निर्णीत होजायगा उसीकी अनुवृत्ति आगेके पर्याप्तमनुष्यो में और मनुषिणी में चलती रहेगी। पर्याप्त-अपर्याप्त शब्द द्रव्यवेदके या द्रव्यस्त्रीवेदके निर्णायक नही हैं। ये शब्द व्यभिचरित हैं। क्योंकि ये शब्द भावस्त्रीवेदी मनुष्यमें भी पाये जाते हैं उसके द्रव्यवेद स्त्रीवेद नही है किन्तु मेहनात्मक द्रव्य पुरुषवेद है।

धवल, जयधवल और गोम्मटसार परसे यह निर्णीत है कि मनुष्यसामान्यमें तीनों भाववेद होते हैं, मनुष्यपर्याप्तमें स्त्रीवेदको छोड़कर अवशिष्ट दो भाववेद होते हैं और मनुषिणी में एक स्त्रीवेद नामका भाववेद ही होता है।

पंडितप्रवर टोडरमलजी कहते हैं— "सो प्रायेण कहिए बहुलता करि तो समानवेद हो है। जैसा द्रव्यवेद होई तैसा ही भाववेद होई। बहुरि कहिं समानवेद न हो है, द्रव्यवेद अन्य होई, भाववेद अन्य होई"। गो० सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका।

गोम्मटसारके टीकाकार नेमिचन्द्र आचार्य लिखते हैं कि 'ये द्रव्य-भाववेद प्रायेण अर्थात् प्रचुरतासे देव-नारकोंमें और भोग-भूमिके सब तिर्यंचों और मनुष्योंमें सम अर्थात् द्रव्य-भावसे समान-वेदोदयसे युक्त होते हैं। कहीं कर्मभूमि सम्बन्धी तिर्यग्गति और मनुष्यगतिमे विषम अर्थात् विसदृश भी होते हैं। यथा—

एते द्रव्यभाववेदा प्रायेण प्रचुरवृत्या देवनारकेषु भोगभूमिसर्वतिर्यङ्मनुष्येषु च समा द्रव्यभावाभ्यां समवेदोदयांकिता भवन्ति क्वचित् कर्मभूमिमनुष्यतिर्यग्गतिद्वये विषमा विसदृशा अपि भवन्ति। —जीवतत्त्वप्रदीपिका।

स्वयं गोम्मटसारकार आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती कहते हैं—

पुरिसित्थिसंढवेदोदएण पुरिसित्थिसंढओ भावे।
णामोदएण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा॥ २७१॥

आचार्य अमितगति कहते हैं—

या स्त्री द्रव्येण भावेन सास्ति स्त्री ना नपुंसकः।
पुमान् द्रव्येण भावेन पुमान्नारी नपुंसकः॥ १९२॥
षंढो द्रव्येण भावेन षंढो नारी नरो मतः।
इत्येवं नवधा वेदो द्रव्यभावविभेदतः॥ १९३॥

—सं० पंचसंग्रह।

जो द्रव्यसे स्त्री होती है वह भावसे स्त्री, पुरुष और नपुंसक होती है, जो द्रव्यसे पुरुष है वह भावसे पुरुष, स्त्री और नपुंसक होता है और जो द्रव्यसे नपुंसक होता है वह भावसे नपुंसक, स्त्री

और पुरुष होता है । इसप्रकार वेद द्रव्य और भाव दोनों से नौप्रकार का होता है ।

अत्यन्त प्राचीन और दृष्टिवादका खास अंश प्राकृत पंचसंग्रहमें कहा गया है कि–सभी जीव द्रव्य और भावसे तीन वेदवाले देखे जाते हैं । वे ही जीव क्रमसे विपरीत भी अर्थात् विषम भी संभवते हैं । यथा—

तिवेदा एव सव्वे वि जीवा दिट्ठा दव्व–भावादो ।
ते चेव य विवरीया संभवहि जहाकमं सव्वे ॥ १०२ ॥

इन सब प्रमाणोंसे किसी एक द्रव्यवेदके होते हुए किसीके भावस्त्रीवेद, किसीके भावपुरुषवेद और किसीके भावनपुंसक वेद होता है ? इस हिसाबसे एक द्रव्यस्त्रीवेदके होते हुए तीन भाववेद, एक द्रव्यपुरुषवेदके होते हुए तीन भाववेद और एक द्रव्यनपुंसकवेदके होते हुए तीन भाववेद एवं नौ प्रकारका भाववेद होता है । इसीप्रकार एक किसी भाववेदके होते हुए तीन प्रकारके द्रव्यवेद होजाते हैं । इस तरह द्रव्यवेद भी नौप्रकारका हो जाता है । यह सुनिश्चित होता है ।

उपर्युक्त वेदोदयके अनुसार मनुष्यसामान्यमें नौ ही भाववेद और नौ ही द्रव्यवेद हो जाते हैं । पर्याप्तमनुष्योंमें दो वेदों का उदय है इस लिए छह द्रव्यवेद हो जाते हैं और मनुषिणीमें एक स्त्रीवेदका उदय है उसके द्रव्यवेद तीन हो जाते हैं । अतः प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुषिणीके एक ही द्रव्यवेद होता है या

तीनों होते हैं। एक ही द्रव्यवेद होता है तो क्या ये वेदवैषम्यके प्रतिपादक सिद्धान्तग्रन्थ अप्रमाणभूत हैं। यदि मनुषिणीके तीनों ही द्रव्यवेद होते हैं तो फिर द्रव्यपुरुषवेदकी अपेक्षा नं. ९३ वें सूत्रमें ' संजद ' पद अतर्कित उपस्थित होता है। ऐसा मनुष्य द्रव्यसे पुरुषवेदी होते हुए भी चौथे गुणस्थानमें उत्पन्न नहीं होता है अत. पर्याप्तिप्रकरणमें उसका अन्तर्भाव, पर्याप्त मनुष्योंमें भी नही होता है।

अत एव ' हुंडावसर्पिण्यां सम्यग्दृष्टय स्त्रीषु किन्नोत्पद्यन्ते ' इस वाक्यके अन्तर्गत स्त्रीशब्दका अर्थ द्रव्यस्त्री नही किया जा सकता। जब कि मनुषिणीके तीनो ही द्रव्यवेद होते हैं। इसीतरह पर्याप्तमनुष्योके भी तीनो ही द्रव्यवेद सिद्ध हो जाते हैं। अतः इस झंझटसे बचनेका यही एक सीधा उपाय है कि द्रव्यवेदके पचडेमें न उलझकर भाववेदका भावगतिका प्राधान्य ही स्वीकार कर लिया जाय और षट्खंडागमके मार्गणोक्त कथनमें द्रव्यवेद की अपेक्षा को ही भूल जाय।

एक द्रव्यवेदमें तीनो भाववेद होते हैं या एक भाववेदमें तीनो द्रव्यवेद होते हैं ऐसा जो ऊपर कहा गया है वह नानाजीवोकी अपेक्षा कहा गया है। ऐसा न समझें कि एक जीवके एक ही भवमे तीनो ही द्रव्यवेद या तीनों ही भाववेद क्रमक्रमशः हो जाते होगे।

सामान्य मनुष्य, मनुष्यपर्याप्त मनुषिणी और मनुष्यअपर्याप्त इन तीनोसे जुदा नही है। अथवा यो कहे इन तीनोको छोड़

सामान्य मनुष्य कोई चीज नहीं है, तीनोंको मिलाकर एक सामान्य मनुष्य भेद है। प्रश्न यह है कि जब मनुष्यपर्याप्तोंके एक द्रव्य-पुरुष वेदही है और मनुषिणीके द्रव्यस्त्रीवेद ही है तो द्रव्यनपुंसक जो कि गर्भज भी होते हैं और पर्याप्त भी होते हैं उनका अन्त-र्भाव इन दो में तो हो नहीं सकता और न ही अपर्याप्तमनुष्योंमें हो सकता है। क्योंकि अपर्याप्तमनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं और सम्मूर्च्छन ही होते हैं। गर्भज पर्याप्तक नपुंसक न लब्ध्य-पर्याप्तक होते हैं और न ही सम्मूर्च्छन होते हैं। यह एक पांचवा भेद मनुष्योंमें और सिद्ध होता है अतः द्रव्यस्त्रियोंकी तरह इन पर भी मेहरबानीकी जानी चाहिए। इनके लिए भी षट्स्त्रीकी तरह दो सूत्र और रचकर ९३ वें के आगे जोड़ देना चाहिए। क्योंकि द्रव्यनपुंसक मनुष्य भी पहले दूसरे गुणस्थानमें पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं तथा तीसरे चौथे और पांचवें गुणस्थानमें पर्याप्त ही होते हैं। मालूम नहीं द्रव्यस्त्रियों के ही साथ इतना मोह क्यों है कि षट्खंडागममें द्रव्यस्त्रियोंके पांचगुणस्थान न हुए तो षट्खंडागम अधूरा रह जायगा। द्रव्यनपुंसकोंसे इतना प्रद्वेष क्यों है जिनके लिए षट्खंडागमके अधूरेपनकी और गुणस्थानों आदि की कोई फिकर ही नहीं है। मतलब कहनेका यह है कि द्रव्य-नपुंसकोंके लिए भी उनमें संभव गुणस्थानोंके प्रतिपादक सूत्र भी होने ही चाहिएं। अन्यथा षट्खंडागमके कथनके अधूरे रह जानेकी परिपूर्ण संभवना है। यह नहीं हो सकेगा कि आगमाधारके विना इस प्रश्नको यों ही टाल दिया जाय।

अब देवगतिमें आइये। देवसामान्य कथन को छोड़कर सिर्फ देवविशेषोंमें सूत्रोंका भावमात्र देते हैं। क्योंकि लेख बढ़ता ही जाता है।

" भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क देव, इनकी देवियां और सौधर्म-ईशान कल्पवासी देवियां ये सब मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानोमें पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं। तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानोमें पर्याप्तक ही होते हैं "।

सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थानमें तो किसी भी तिर्यंच-मनुष्यका मरण नहीं होता है इसलिए यह गुणस्थान इन देव-देवियोंके अपर्याप्त अवस्थामें होता नहीं है, कभी होता है तो पर्याप्त हो जाने पर ही होता है। असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें मनुष्य-तिर्यंचोंका मरण तो होता है परन्तु सम्यक्त्वके साथ वे इन देव-देवियोमें उत्पन्न नहीं होते हैं। इसलिए अपर्याप्त अवस्थामें यह गुणस्थान भी उनके नहीं होता है। कभी होता है तो पर्याप्त हो जाने पर ही इन देव-देवियोंके यह चौथा गुणस्थान होता है।

" सौधर्म-ऐशानसे लेकर उपरिमउपरिमग्रैवेयक तकके देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानोमें पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं। तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमें ये देव पर्याप्तक ही होते हैं।

नवानुदिशसे लेकर सर्वार्थसिद्धितकके देव असंयतसम्य-ग्दृष्टिगुणस्थानमें पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते

हैं। इनके चौथे गुणस्थानके सिवा और कोई गुणस्थान होते नहीं हैं। देवसामान्य मे गतिमार्गणामें सूत्र नं. २८ के द्वारा चारगुणस्थान कहे गये हैं उनमे ये सब देव अपने अपने संभवगुणस्थानोमें उपर्युक्त रीत्या पर्याप्तक और अपर्याप्तक होते हैं। भाववेद देवोमें भी होता है। यथा—

देवा चदुसु ट्ठाणेसु दुवेदा इत्थिवेदा पुरिसवेदा ।११०।

देव अपने चारो गुणस्थानो मे स्त्रीवेद और पुरुषवेद इसप्रकार दोवेदवाले होते है।

देवो में वेदवैषम्य नही होता है अत वे द्रव्यसे जिस वेदवाले होते हैं भावसे भी उसी वेदवाले होते हैं या यो कहें भावसे जिस वेदवाले होते हैं द्रव्यसे भी उसी वेदवाले होते हैं। देवगति नामकर्मके उदयसे देव होते हैं। भाववेद और द्रव्यवेद देवोमें होता है परन्तु दोनो ही के उदयसे देव नही होते हैं। देवोमें भी इस सूत्रके द्वारा द्रव्यभाव दोनो वेदोके होते हुए भी भाववेद ही कहा गया है। क्योकि 'चारित्तमोहोदएण वेदाणं सरूवं परूवेमो' यह प्रतिज्ञा यहा पर सूत्रकार की है तथा विग्रहगतिमें द्रव्यवेद होता नहीं है।

द्रव्यपक्षियो ने जहा जहा भी द्रव्यशरीर और द्रव्यवेद कल्पित कल्पना से मान लिया है, उनकी उन कल्पनाओसे द्रव्यवेद और द्रव्यशरीर स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी यह सिद्धान्त उपस्थित रहता है कि भले ही उन जीवोंके द्रव्यवेद और द्रव्यशरीर हो परन्तु शरीर और द्रव्यवेद नामकी कोईसी भी

मार्गणा नहीं है, न कोईसा भी गुणस्थान है और न कोईसा भी जीवसमास है।

पर्याप्तता-अपर्याप्तताका भी मार्गणा आदिकी तरह शरीरसे सम्बन्ध नहीं है। मान भी लिया जाय तो भी कर्मभूमिके तिर्यंच-मनुष्योंमें वेदवैषम्य होनेके कारण खासकर पर्याप्ततिर्यंचोंके और पर्याप्तमनुष्योंके तथा योनिनियों और मानुषियोंके क्रमश द्रव्य पुरुषवेद और द्रव्यस्त्रीवेद सिद्ध नहीं होते हैं। 'जीवट्ठाण' तो द्रव्यवेदका स्पर्श भी नहीं करता है। अत उससे द्रव्यवेदकी आशा करना सात समुद्रोंके पार की बात है।

भावमानुषी भी पर्याप्त-अपर्याप्त होती है।

द्रव्यस्त्री ही पर्याप्त-अपर्याप्त होती है ऐसा नियम नहीं है, क्योकि भावमानुषी भी पर्याप्त और अपर्याप्त होती है। यह बात हम ख० जैन हितेच्छु किशनगढ वर्ष २७ अक ४-५-६ में खूब विस्तार के साथ लिख चुके हैं। प्रसगवश कुछ और भी लिखते हैं।

द्रव्यपक्षी प. मक्खनलालजी अपने टेक्ट के पेज ५९ मे लिखते है कि " ९२ और ९३ वे सूत्रमें मानुषीशब्दका वाच्य अर्थ केवल द्रव्यस्त्री ही लिया गया है। क्योकि मानुषीपदके साथ पर्याप्ति और अपर्याप्ति पद भी जुडे हुए हैं " इत्यादि। प.

मक्खनलालजीने इस बातको लिखते हुए थोड़ी भी झिझक नहीं खाई है। उन्हें द्रव्यवेदकी धुनमें यह खयाल ही नहीं रहा कि इतनी पोची बात क्यों कही जा रही है। पर्याप्त-अपर्याप्त शब्दों-परसे वे द्रव्यशरीर सिद्ध करना सीख गये हैं। सीख गये हैं तो सीख जांय उन्हें मना कर ही कौन सकता है। कोई अपनी कुदालीको 'कंबल' कहे तो उसे रोके कौन ?। वे अपनी लेख-नीसे कुछ भी लिखें। क्या वे अपने हृदयमें विश्वास करते हैं कि मानुषीको द्रव्यस्त्री सिद्ध करनेके लिए प्रयुक्त पर्याप्त-अपर्याप्त शब्द दर असलमें आगमसे समर्थित हेतु हैं! हैं तो उस आगम-प्रमाणसे उसका समर्थन उन्हें करना चाहिए था। विना आगम-प्रमाणके इस बातको एक साधारण व्यक्ति भी नहीं मानेगा। पं. मक्खनलालजी अपने हेतुका, आगमसे समर्थन करें कि पर्याप्त-अपर्याप्त शब्द जिस मानुषीके साथ जुड़े हुए हों वह द्रव्यस्त्री ही होती है या उसका शरीर द्रव्यस्त्रीका ही होता है।

भगवद्वीरसेनस्वामी धवलाखंड दो में लिखते हैं कि " मनुषिणीसामान्यके चौदह गुणस्थान होते हैं, दो जीव समास होते हैं, छहपर्याप्तियां और छह ही अपर्याप्तियां होती हैं, दश और सातप्राण होते हैं, चार संज्ञाएं होती हैं, क्षीण संज्ञा भी होती है, मनुष्यगति होती है, पंचेन्द्रियजाति होती है, त्रसकायिक वह होती है, ग्यारह योग उसके होते हैं, अयोग भी होता है, स्त्रीवेद होता है, अपगतवेद होता है, चारकषाय होते हैं, अकषाय-भाव भी होता है, मनः पर्ययके विना सातज्ञान होते हैं, परिहार

संयमके विना छह संयम होते हैं, चार दर्शन होते हैं, द्रव्यभावसे छह लेशाएं होती हैं, अलेश्य भी होती हैं, भवसिद्धियपना भी होता है, छह सम्यक्त्व होते हैं, संज्ञीपना होता है, संज्ञित्व-असंज्ञित्वका अभाव भी होता है, आहारीपन और अनाहारीपन भी होता है, साकारोपयोग और अनाकारोपयोग होते हैं, दोनोंसे एक साथ उपयुक्तता भी होती है "।

प्रमाण देखना हो तो धवलाका मुद्रित दूसरा खंड देखलें। लेख बढ़ रहा है इस भयसे प्रमाण नहीं दिये गये हैं। मनुषिणी-सामान्यमें पर्याप्त मनुषिणी और अपर्याप्तमनुषिणी दोनो गर्भित हैं। क्योंकि दोनोंके उक्त सब प्ररूपणाएं वहीं आगे कही गई हैं। इतना ही नहीं, प्रथम द्वितीय इन दो गुणस्थानोंमें सामान्यमनुषिणी, पर्याप्तमनुषिणी और अपर्याप्तमनुषिणीके बीस बीस प्ररूपणाएं कही गई हैं। इन दो गुणस्थानोंमें ही मनुषिणियां पर्याप्त-अपर्याप्त होती हैं। ऊपरके बारह गुणस्थानोंमें भी पृथक् पृथक् बीस प्ररूपणा कही गई हैं आगेके बारह गुणस्थानोंमें मनुषिणियां पर्याप्त ही होती हैं, अपर्याप्तपनेका उनके अभाव है, इसलिए बारह गुणस्थानोंमें पर्याप्त-अपर्याप्तके नामसे जुदा जुदा कथन नहीं है। किन्तु तेरहवें गुणस्थानमें मनुषिणिया पर्याप्त-अपर्याप्त दोनों तरह की होती हैं। इसलिए वहां मनुषिणीके दोनों ही अवस्थाओंमें बीस प्ररूपणा कही गई हैं। मनुषिणीसामान्यभेद द्रव्य भाव मनुषिणियोंको लेकर नहीं है। किन्तु पर्याप्त-अपर्याप्त भेदो को लेकर है।

सामान्यमनुष्यिणीके चौदह गुणस्थान होते हैं जिनमेंसे पर्याप्त मनुषिणीके चौदहों होते हैं और अपर्याप्तके पहला दूसरा और तेरहवां एवं तीन गुणस्थान होते हैं। इस कथनसे भावमनुषिणियां ही ये मनुषिणियां हैं और वे पर्याप्त–अपर्याप्त होती हैं यह निश्चित होता है। संज्ञीपर्याप्त और संज्ञीअपर्याप्त ये दो जीवसमास इनमें होते हैं। जिनमें से संज्ञीपर्याप्त पर्याप्तअवस्थामें और संज्ञीअपर्याप्त अपर्याप्त अवस्थामें होता। इससे भी भावमनुषिणियां पर्याप्त–अपर्याप्त होती हैं। छहों पर्याप्तिया और छहो अपर्याप्तियां इनके कही गई हैं। पर्याप्तियां पर्याप्त अवस्थामें और अपर्याप्तियां अपर्याप्त अवस्थामें होती हैं। इस कथनसे भी भावमनुषिणियां पर्याप्त–अपर्याप्त होती हैं। इतना ही नहीं किन्तु ये शब्द उनके साथ जुड़े हुए भी हैं। दश और सात इनके प्राण होते हैं। उनमें से पर्याप्तके दश और अपर्याप्त के सात होते हैं। भावमनुषिणियां पर्याप्त–अपर्याप्त न हो तो दश प्राण पर्याप्तके होते हैं और सात प्राण अपर्याप्त के होते हैं यह कथन ही व्यर्थ पड़ जाता है। संज्ञाएं, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति और त्रसकाय ये चारों भेद दोनों अवस्थाओं में समानरूप से होते हैं। दशवें गुणस्थान से ऊपर, इनके चारों संज्ञाओं में से एक भी नहीं रहती है, इसलिए क्षीणसंज्ञावाली भी मनुषिणिया होती हैं, द्रव्यस्त्री क्षीणसंज्ञावाली नहीं होती है। ग्यारह योग होते हैं उनमेंसे चारमनोयोग, चारवचनयोग और एक औदारिककाययोग ऐसे नौ योग पर्याप्तअवस्थामें और कार्मणकाययोग औदारिकमिश्रकाययोग ये दो योग अपर्याप्त-

अवस्थामें होते हैं। योगोंके कथनसे भी भावमनुषिणी पर्याप्त—अपर्याप्त साबित होती है। भावमनुषिणीके एक स्त्रीवेद ही कहा गया है, इससे इसके एक ही भावस्त्रीवेद होता है। पर्याप्त—अपर्याप्त दोनों ही अवस्थाओंमें एक स्त्रीवेद ही कहा गया है। इससे मालूम होता है कि भावमनुषिणी, स्त्रीवेदका उदय अपर्याप्त अवस्थामें होते हुए भी पुरुषाकार अपना शरीर बनाना शुरू कर देती है। नौवेंसे ऊपरके गुणस्थानोंमें यह अपगतवेद होती है, इससे यह मनुषिणी भावस्त्री साबित होती है। चारों कषाय इसके दोनों अवस्थाओंमें होते हैं। अकषायभाव दशवें गुणस्थानसे ऊपर पर्याप्त अवस्थामें ही होता है। मन. पर्ययके विना सात ज्ञान भी इसके होते हैं। इनमेंसे कुमति और कुश्रुत दोनों अवस्थाओंमें होते हैं। विभंगज्ञान पर्याप्तअवस्थामें ही होता है। मति, श्रुत और अवधि ये तीन सम्यग्ज्ञान पर्याप्तअवस्थामें ही बारहवें गुण-स्थान तक होते हैं। केवलज्ञान भी भावमनुषीणीके दोनों अव-स्थाओंमें होता है। इस पर्याप्त अवस्थाके कथनसे पर्याप्त और अपर्याप्तअवस्थाके कथनसे अपर्याप्तभावमनुषिणिया होती है। परिहारसंयमके विना छह संयम इसके होते हैं उनमेंसे सामायिक-छेदोपस्थापना संयम छट्ठेसे नौवें तक होते हैं, सूक्ष्मसांपरायसंयम दशवेंमें होता है और ग्यारहवेंसे चौदहवें तक एक यथाख्यातसंयम होता है। पाचवेंमें देशसंयत अर्थात् संयतासंयत नामका संयम होता है तथा पहलेसे चौथे तक असंयम होता है। पहले दूसरे गुणस्थानमें तो यह असंयम पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें होता

और तीसरे चौथे में पर्याप्तअवस्थामें ही होता है। संयतासंयतादि सूक्ष्मसांपराय तकके संयम पर्याप्त अवस्थामें ही होते हैं। यथाख्यातसंयम तेरहवें में तो दोनो अवस्थाओ में होता है अवशिष्ट तीन गुणस्थानो में पर्याप्तअवस्थामें ही होता है। इस कथनसे स्पष्ट है कि भावमनुषिणीके संजदपना सिद्ध है। भाव मनुषिणी भी पर्याप्त-अपर्याप्त होती है, यह ऊपरके कथनसे स्पष्ट है फिर भी उसके द्रव्यवेद स्त्रीवेद नहीं है। अतः पर्याप्त भावमनुषिणीकी अपेक्षा नं. ९३ सूत्रमें संजदपदके होनेमें कौनसी क्षति है जब कि उसके छट्ठेसे १४ वें तकके सब संयमस्थान पाये जाते हैं। चक्षु, अचक्षु और केवल ये तीन दर्शनभाव मनुषिणीके पर्याप्त-अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में होते हैं, अवधिदर्शन पर्याप्तअवस्थामें ही होता है। द्रव्य-भाव दोनों तरहकी लेश्याएं इसके होती हैं। उनमेंसे पर्याप्तअवस्थामें छहों होती हैं और अपर्याप्तअवस्थामें द्रव्यलेश्या तो कापोत और शुक्ल होती हैं और भावलेश्याएं कृष्ण, नील कापोत और शुक्ल होती हैं। इस कथनसे भी भावमानुषी पर्याप्त-अपर्याप्त साबित होती है। दोनों अवस्थाओंमें भव्य-अभव्य यह होती है। छहसम्यक्त्व इसके होते हैं उनमेंसे औपशमिक क्षायिक, वेदक, और सम्यग्मिथ्यात्व ये चारों पर्याप्त अवस्थाओ में ही होते है। क्षायिक तेरहवें गुणस्थानमें भी होता है वहां वह दोनो अवस्थामें होता है। मिथ्यात्व और सासादन दोनों अवस्थाओं में होते हैं। संज्ञित्व दोनो अवस्थाओं में होता है। संज्ञि-असंज्ञिका का अभाव रूप-

मार्गणा भी तेरहवें में दोनों अवस्थाओं में होती है। चौदहवें में पर्याप्त अवस्थामें ही होती है। आहारकत्व-अनाहारकत्व दोनों अवस्थाओं में होते हैं।

सामान्यभावमनुषिणी, पर्याप्तभावमनुषिणी और अपर्याप्त भावमनुषिणी इन तीनोंमें यह सामान्य कथन है। इनके चौदह गुणस्थानोंमें भी उक्त बीस प्ररूपणाएं यथासंभव कही गई हैं। सामान्यमनुषिणीके और पर्याप्तमनुषिणीके गुणस्थान चौदह तथा अपर्याप्तमनुषिणीके पहला, दूसरा और तेरहवां ऐसे तीन कहे हैं। मिच्छाइट्ठिपज्जत्तमणुसिणीणं, मिच्छाइट्ठिअपज्जत्तमणुसिणीणं, सासणसम्माइट्ठिपज्जत्तमणुसिणीणं, सासणसम्माइट्ठिअपज्जत्तमणुसिणीणं इत्यादि पदोंके प्रयोगके साथ साथ इन दो गुणस्थानोंमें छह पर्याप्तियां और छह अपर्याप्तियां कही गई हैं। आगे सम्मामिच्छाइट्ठिमणुसिणं भण्णमाणे इत्यादि पदोंके साथ साथ प्रत्येक गुणस्थानोंमें संभव बीस प्ररूपणाओंको कहते हुए सर्वत्र १२ गुणस्थानोंमें छह छह पर्याप्तियां कही गई हैं, तेरहवेंमें छह अपर्याप्तियां भी कही गई हैं। मिथ्यादृष्टिसे लेकर नौवेंतक एक स्त्रीवेद कहा गया है। इस कथनसे स्पष्ट है कि भावमनुषिणियां भी पर्याप्त-अपर्याप्त होती हैं। उनके आगे पीछे सर्वत्र पर्याप्त-अपर्याप्त शब्द भी जुड़े हुए हैं। पंडित मक्खनलालजी बतावें यह चौदह गुणस्थानवाली पर्याप्त मनुषिणी और प्रथम द्वितीय और त्रयोदश गुणस्थानवाली अपर्याप्तमनुषिणी पर्याप्त-अपर्याप्त शब्द साथमें जुड़े हुए होनेके कारण द्रव्यस्त्री है या भावस्त्री?

द्रव्यस्त्री तो यह चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनी पर्याप्त- अपर्याप्त मनुषिणी हो नहीं सकती। हठात् यही सिद्ध होता है कि यह पर्याप्त- अपर्याप्त शब्दसमन्वित और चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनी मनुषिणी भावस्त्री या भावमनुषिणी है।

परमर्षि भट्टाकलंकदेव राजवार्तिकमें लिखते हैं कि—'

मानुषीपर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि संति भावलिंगापेक्षया, द्रव्यलिंगापेक्षेण तु पंचाद्यानि। अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, सम्यक्त्वेन सह स्त्रीजननाभावात्।

अर्थात् पर्याप्तक मानुषियोंमें भावलिंगकी अपेक्षा चौदहों गुणस्थान होते हैं और द्रव्यलिंगकी अपेक्षासे आदिके पांचगुणस्थान होते हैं। तथा द्रव्य–भाव उभयप्रकारकी अपर्याप्तमानुषियोंमें आदिके दो ही गुणस्थान होते हैं। क्योंकि सम्यक्त्वके साथ स्त्रीजननका अभाव है।

धवलाकार भावमनुषिणीके केवलिसमुद्घातकी अपेक्षा छहों पर्याप्तियां और छहों अपर्याप्तियां कहते हुए तेरहवां गुणस्थान अपर्याप्त अवस्थामें भी कह रहे हैं। अकलंकदेव जन्मकी अपेक्षा से पहला दूसरा गुणस्थान कह रहे हैं। इसलिए दोनों आचार्योंके कथनमें विरोध भी नही है। यहां पर भावमनुषिणीके साथ पर्याप्त शब्द जुड़ा हुआ है और ' भावलिंगापेक्ष्या ' इस पदसे वह भावमनुषिणी करार दी गई है। अपर्याप्त अवस्थामें भाव मनुषिणी और द्रव्यमनुषिणी दोनोंके आदिके दो ही गुणस्थान कहे हैं तथा द्रव्यभाव दोनों ही मानुषियोंका सम्यक्त्वके साथ

स्त्रियोंमें जन्म निषेध गया है। सम्यक्त्व सहित जीव न द्रव्य-स्त्रियोमें उत्पन्न होता है और न भावस्त्रियोंमें ही उत्पन्न होता है यह बात भी भगवद्भट्टाकलंकके वचनोंसे निश्चित है।

सर्वार्थसिद्धिकार भगवत्पूज्यपादका मत भी देखिये—

मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकानामेव नापर्याप्तिकानां। क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव।

अर्थात् मानुषियोंके तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं औपशमिक, क्षायिक और वेदक। परन्तु पर्याप्तमानुषियोंके ही होते हैं, अपर्याप्तमानुषियोंके नहीं होते हैं। (यद्यपि पर्याप्तमानुषियोंके तीनों सम्यक्त्व होते हैं फिर भी उनमेंसे) क्षायिक सम्यक्त्व भावस्त्रीवेदसे युक्त पर्याप्तमानुषीके ही होता है।

इससे इस आशयपर पहुंचना भी सहज है कि पर्याप्तभाव-मानुषियोंके तीनों सम्यक्त्व होते हैं। पर्याप्तद्रव्यमानुषियोंके क्षायिकको छोड़कर शेष दो ही सम्यक्त्व होते हैं। 'भाववेदनैव' इसपदके द्वारा भावमानुषियोंमें वेदका नियंत्रण किया गया है। द्रव्यस्त्रियोंमें भाववेदका नियंत्रण नहीं है किन्तु द्रव्यवेदका नियंत्रण है। वेदवैषम्यकी अपेक्षासे द्रव्यस्त्रीके कोईसा भी भाववेद हो उसकी प्रधानता नहीं है किन्तु द्रव्यवेदकी प्रधानता है इसलिए उसके दो ही सम्यक्त्व होते हैं और भावमानुषियोंके तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं। दोनों ही मानुषियां पर्याप्त—अपर्याप्त दोनों तरहकी होती हैं। परन्तु सम्यक्त्व दोनों ही के पर्याप्तअवस्थामें

होते हैं, अपर्याप्तदशामें दोनों ही मानुषियोंके सम्यक्त्व नहीं होते हैं। यह बात पूज्यपाद के वचनोंसे स्पष्ट है।

पहले दूसरे गुणस्थानमें जन्म लिये बिना भावमानुषियां अपर्याप्त कैसे हो जावेंगी ? सभी ग्रन्थकार भावमानुषियोंको भी पर्याप्त-अपर्याप्त कह रहे हैं किन्तु पं. मक्खनलालजी की डफली अलग ही बज रही है कि " ९२ और ९३ वें सूत्रमें मानुषीशब्द का वाच्य अर्थ केवल द्रव्यस्त्री ही लिया गया है। क्योंकि मानुषीपदके साथ पर्याप्ति और अपर्याप्ति पद भी जुड़े हुए हैं "।

भगवत्पूज्यपाद, भट्टाकलंकदेव, वीरसेन जैसे प्रखर आचार्य एक मतसे भावस्त्री या भावमनुषीको भी पर्याप्त और अपर्याप्त कह रहे हैं। इस परसे पं. मक्खनलालजी का उक्त कथन नेस्तनाबूद हो जाता है। तात्पर्य यह है कि पर्याप्त-अपर्याप्त शब्द ९२-९३ वें सूत्रान्तर्गत मनुषिणीको द्रव्यस्त्री सिद्ध करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। पर असलमें ९२-९३ वें सूत्र भावमनुषिणियों को ही प्रधानतया पर्याप्त-अपर्याप्त कह रहे हैं। भावमनुषिणियोंकी इस संपत्ति को छीनकर पं. मक्खनलालजी जबरन द्रव्यस्त्रियों के लिए ही अर्पण कर रहे हैं। क्या यह कोई खास माहात्म्य है।

इस ऊपर के कथन से भावमानुषियां पर्याप्त और अपर्याप्त होती हैं और दोनों ही मरकर असंयतसम्यग्दृष्टियों में नहीं जन्मती हैं। यह निश्चित होता है। अतः सूत्र ९२ वें ९३ वें में संजदपद भावमनुषिणियों की अपेक्षा अनिवार्य सिद्ध होता है। भावमनुषिणीके चौदह गुणस्थान होते हैं इस बात को एक सिरे से सभी

आचार्य स्वीकार करते हैं । चौदह गुणस्थानोंमें छट्टे से चौदह तक के गुणस्थान ' संजद ' स्थान हैं ही । द्रव्यस्त्रीका कथन छूट जाता है तो छूट जाय इससे षट्खंडागमका कथन अधूरा नहीं रहता है । जब कि षट्खंडागमकार द्रव्यवेद के विषय का कथन यहां करते ही नहीं हैं । द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंकी चिन्ता के साथ साथ पं. मक्खनलालजीको द्रव्यनपुंसक मनुष्योंके गुणस्थानोंकी भी फिकर करना चाहिए क्योंकि षट्खंडागममें द्रव्यनपुंसकके लिए भी गुणस्थानोंका कोई विधान नहीं है । इसके विना भी षट्खंडागमका कथन अधूरा रह जाता है ।

मनुषिणीके द्रव्यवेद कौनसा हो सकता है ।

मनुषिणीके द्रव्यवेद कौनसा होता है । यह एक प्रश्न है । षट्खंडागमकार तो द्रव्यवेदके विषयमें मौन हैं । क्योंकि उनका सारा कथन आत्मपरिणामोंकी प्रधानताको लिये हुए है । उसमें द्रव्यवेद अनपेक्षित है । द्रव्यवेदके उदयसे आत्मपरिणाम उत्पन्न नहीं होते हैं और नही द्रव्यवेद आत्माका कोई भाव है तथा न ही द्रव्यवेदमें कोई स्वतंत्र कार्यावली कही गई है ।

कुछ लोग षट्खंडागमके सौ सूत्रोंसे द्रव्यवेदकी सिद्धिके लिए अथक परिश्रम कर रहे हैं । परन्तु उन सौ सूत्रों से भावोंके सिवा द्रव्यकी सिद्धि ही नही होती है । जीवोंके द्रव्यवेद भी होता है, बस, इसी कल्पना परसे वे अपने अपने घोड़े अटसंट

दौड़ा रहे हैं। इसका नाम द्रव्यवेदकी सिधि नही है। हम भी यह तो कहते ही नहीं हैं कि सभी जीवोंके द्रव्यवेद नहीं होता है। द्रव्यवेद कितने ही जीवोंके अवश्य होता है। परन्तु षट्खंडागमकी सत्प्ररूपणा में यह कहा नही गया है। इसका कारण यह है कि षट्खंडागममें सब मार्गणाएं ही नहीं गुणस्थान और जीवसमास सभी भावकी अपेक्षासे वर्णित हैं। उस भावके होनेमें योनिमेहनादिद्रव्यवेदका उदय कारण नहीं है। अथवा जिन भावोंसे मार्गणाएं होती हैं उन भावोंसे द्रव्यवेद होता नही है। कोई भी हमें समझा दे कि योनिनामके द्रव्यस्त्रीवेदसे और मेहनेहननामके द्रव्यपुरुषवेदसे जीवोंके त्रेपन भावोंमेंसे अमुक भाव पैदा होता है। बिना इसके सौसूत्रोंसे द्रव्यवेद सिद्ध होता है इस गढ़ी हुई कल्पनामें किसीको भी सन्तोष नही है। क्योंकि सौसूत्रोंमें औदयिकजीवभावोंके सिवा द्रव्यवेद कहा ही नहीं गया है।

ऐसी हालतमें द्रव्यवेदका विषय आगमान्तरोंका है। आगमान्तरोंमें हम यह जानते हैं कि अमुक अमुक द्रव्यवेदवाले जीवोंके अमुक अमुक गुणस्थान होते हैं। नरकमें द्रव्यवेद एक नपुंसक नामका है, वह चार गुणस्थानतक ही नियंत्रित है। देवोंमें स्त्री और पुरुष नामके दो द्रव्यवेद हैं। दोनो ही चौथे गुणस्थानतक होते हैं। इन दोनो गतियोंमें वेदवैषम्य नही है। इसलिए दोनों गतिके जीव अपने अपने भाववेदके सान्निध्यसे और तदनुकूल अंगोपांगके उदयसे अपना अपना द्रव्यवेद बनाते हैं।

तिर्यञ्चगतिमें और मनुष्यगतिमें यह बात नहीं है। इन दोनों गतियोंमें वेदवैषम्य है। इसलिए इन दो गतियोंके जीव भाववेद कुछ ही है तो द्रव्यवेद कुछ और ही बना लेते हैं। इसमें कारण विरुद्धद्रव्यवदनामकर्म का उदय है। कर्मभूमि सम्बन्धी तिर्यग्गति और मनुष्यगतिमें तीनों ही द्रव्यवेद और तीनों ही भाववेद होते हैं। प्रत्येक तीन तीन तरहके होते हैं। इस लिए नौ नौ तरहके हो जाते हैं। तिर्यग्गति सम्बन्धी सब द्रव्य–भाववेद पंचमगुणस्थानसे ऊपर नहीं बढ़ पाते हैं। मनुष्यगतिमें द्रव्यस्त्रीवेद और द्रव्यनपुंसकवेद तीन तीन भाववेदोंमें से किसी भी भाववेदके होते हुए पंचमगुणस्थानसे ऊपर नहीं बढ़ पाते हैं। क्योंकि यहां मुख्यता द्रव्य की है। द्रव्यपुरुषवेद एक ऐसा है जो किसी भी भाववेदके होते हुए चौदहवें गुणस्थानतक जा पहुंचता है। परन्तु अपने भाववेद रूप साथियोको नौवें गुणस्थानमें ही छोड़ जाता है।

एक भवमें एक जीवके एक ही द्रव्यवेद होता है और एक ही भाववेद होता है। जिन जिन जीवोंमें वेदवैषम्य होता है उनके भी किसी भी द्रव्यवेदके होते हुए जन्मके प्रथमसमयसे लेकर मरण पर्यन्त एक ही भाववेद होता है। कषाएं जैसे अन्तर्मुहूर्तमें बदलती रहती हैं उसतरह वेद नहीं बदलते हैं। वेद तो जन्मसे मरण तक एक ही रहता है। यथा—

कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदाः, आजन्मनः आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात्।— धवल खंड १ पे.

ऐसा नहीं है कि जिस किसी तिर्यंच या मनुष्यके किसी एक द्रव्यवेदके होते हुए एक ही भवमें कभी कोईसा तो कभी कोईसा भाववेद हो जाता हो सिद्धान्तग्रन्थोंके अनुसार मनुष्य-गतिके मनुष्य चार भेदोंमें विभक्त हैं। उनमेंसे मनुष्यसामान्य आगेके तीनों भेदोंका मिक्स है और मनुष्यअपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं। दोनोंको छोड़ कर शेष दो भेद मनुष्यपर्याप्त और मनुषिणीके नामसे सिद्धान्त ग्रन्थोंमें मशहूर हैं। जिन मनुष्योंके भावपुरुषवेद और भाव नपुंसकवेदका उदय है वे पर्याप्तमनुष्य कहे जाते है किन्तु जिनके स्त्रीवेदका उदय है वे पर्याप्त मनु-षिणीके नामसे बोले जाते हैं। भगवद्वीरसेन जयधवलामें एक जगह लिखते हैं कि " **मणुसपज्जत्तात्ति पुरिस-णवुंसय-वेदोदइल्लाणं जीवाणं गहणं, मणुसिणित्ति इत्थीवेदोदइ-ल्लाणं गहणं** "। अर्थात् मनुष्यपर्याप्तपदसे पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयवाले जीवोंका ग्रहण है तथा मनुषिणीपदसे स्त्रीवेदके उदयवाले जीवोंका ग्रहण है।

ग्रन्थान्तरोंकी अपेक्षा इनके सभी द्रव्यवेद हो सकते हैं। परन्तु षट्खंडागमकार द्रव्यवेद की अपेक्षा से कोईसा भी वर्णन नहीं करते हैं। ग्रन्थान्तरोंमें दोनों वेदोंकी अपेक्षासे कथन पाया जाता है। परन्तु मार्गणाओंका, गुणस्थानोंका और जीवसमासों का कथन तो वे भी भावकी अपेक्षासे ही करते हैं। द्रव्यकी अपेक्षासे वे भी इनका वर्णन नहीं करते हैं द्रव्यवेदका वे जुदा कथन करते हैं। वहां द्रव्यवेद किन किन जीवोंके कौन कौनसा

होता है, कौन कौनसे गुणस्थान तक कौन कौनसा द्रव्यवेद है। उसके कितने भेद हैं, इस तरह द्रव्यवेद की अपेक्षा उन उन ग्रन्थोमें वर्णन पाया जाता है। इसका अर्थ यह नही है कि मार्गणा, गुणस्थान और जीवसमास इन द्रव्यवेदो के उदय से होते हैं।

षट्खंडागममें ऐसा कथन द्रव्यवेद विषयक नही है। वहां तो द्रव्यवेदका समन्वय उन ग्रन्थान्तरो के अनुसार बैठा लेना पड़ता है। परन्तु फिर भी षट्खंडागमका कथन घटित होगा तो मुख्यत द्रव्यपुरुषवेदियो में ही होगा। जिनके कि उक्त तीनो भाववेद जन्मसे ही होते हैं। यह हम आगे चलकर बतावेंगे। आगमान्तरों में द्रव्यस्त्रीवेद वाले जीवोके पांच गुणस्थान कहे हैं तथा सामान्यतः भी द्रव्यस्त्रीवेदी कहे गये हैं। यद्यपि इनमें तीनों भाववेद पाये जाते हैं परन्तु स्त्रीवेद नामका भाववेद भी इनके होता है, इस अपेक्षासे वे भी कथंचित् मनुषिणिया होती हैं। इसलिए शंकाकार मनुषिणीके कथनमें बीचमें इनको लाकर खड़ी कर देता है। ९३ वें सूत्रमें भी ऐसा ही हुआ है। ९३ वें सूत्रका मुख्यकथन भावमनुषिणीकी अपेक्षासे है। पाचवें गुणस्थानतक द्रव्यस्त्री भी होती है। इसलिए गौणरीत्या उसके लिए भी पाचवें गुणस्थानतक का कथन आजाता है। मुख्यतया तो भावमनुषिणी या भावस्त्रीकी अपेक्षा ही कथन है। क्योंकि चौदह गुणस्थानो में सर्वत्र इस भावमनुषिणी का सत्त्व पाया जाता है।

ग्रन्थान्तरोंमें भी तीनो वेदोका उदय नौवेंतक कहा है। उनके कथनानुसार मनुषिणीके या भावस्त्रीवेदी जीवके द्रव्यवेद पुरुषवेद कहा है। माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव स्वकृत क्षपणासार वृत्तिमें लिखते हैं—

वेदः कीदृशो भवेत्? भावापेक्षया त्रिष्वेको द्रव्यापेक्षया तु पुंवेद एव।

इसका अर्थ यह है कि कषायोका क्षपण और उपशमन करनेवाले जीवोंके वेद कौनसा होता है? उत्तर देते हैं—भावकी अपेक्षासे तीनो भाववेदोमेंसे कोईसा एक होता है और द्रव्यकी अपेक्षासे पुरुषवेद ही होता है।

कषायोंका क्षपण, क्षपकश्रेणिमें और उपशमन उपशम श्रेणिमें क्षपण और उपशमन करनेवाले किसी द्रव्यपुरुषवेदी जीवके भावपुरुषवेद, किसीके भावस्त्रीवेद और किसीके भावनपुसकवेद होता है। ऐसा ही वेदका विभाग आगेके कथनमें लगाना चाहिये। जहां कि तीनों वेद एक साथ कहे गये हो। वह कषायोंका क्षपण और उपशम करनेवाला भा स्त्रीवेदी जीव नौवें गुणस्थानवाला होता है।

भगवज्जिनसेन जयधवलामें कषायोंके इसी क्षपणाप्रकरणमें लिखते हैं कि कषायोंका क्षपण करने वाले जीवके स्त्रीवेद पुरुषवेद, और नपुंसकवेद इनमेंसे कोई एक वेदपरिणाम होता है। क्योंकि तीनो ही वेदोंके उदयसे श्रेणि चढ़नेका निषेध नहीं है। विशेषता यह है कि द्रव्यसे पुरुषवेदवाला जीव ही क्षपक श्रेणिमें आरोहण

करता है ऐसा कहना चाहिए। क्योंकि क्षपकश्रेणिमें प्रकारान्तर अर्थात् अन्य द्रव्यवेद असंभव हैं। यथा—

इत्थिपुरिसणवुंसयवेदाणमण्णदरो वेदपरिणामो एदस्स होइ, तिण्हं पि तेसिमुदएण सेढिसमारोहणे पडिसेहा भावादो। णवरि दव्वदो पुरिसवेदो चेव खवगसेढिमारोहदि-त्ति वत्तव्वं, तत्थ पयारंतरासंभवादो।

इसका अर्थ ऊपर आ चुका है। भगवद्वीरसेन धवलामें लिखते हैं—

जेसिं भावो इत्थिवेदो दव्वं पुण पुरिसवेदो ते वि जीवा संजमं पडिवज्जंति। भावित्थिवेदाणं दव्वेण पुंवेदाणं पि संजदाणं णाहाररिद्धी समुप्पज्जदि।

इसका भाव यह है कि जिनके भाव स्त्रीवेदरूप हैं और द्रव्यवेद जिनके पुरुषवेद है वे जीव भी संयम धारण करते हैं। जो भावस्त्रीवेदवाले होते हैं और द्रव्यसे पुरुषवेदवाले भी होते हैं ऐसे संयतोंके आहारऋद्धि उत्पन्न नहीं होती है।

भावस्त्री जिसे मानुषी कहते हैं उसके उक्त उद्धरण में द्रव्य-वेद पुरुषवेद कहा गया है। ऐसे व्यक्ति संयमधारण कर सकते हैं, परन्तु विशेषता यह है कि ऐसे द्रव्यपुरुषो'के उस स्त्रीवेद के प्रभाव के कारण आहारक ऋद्धि नही होती है।

स्वामी विद्यानन्दी श्लोकवार्तिकमें लिखते हैं कि पुरुषोके सिद्धि सिद्धिगतिमें होती है और मनुष्यगतिमें भी होती है। वह

सिद्धि अवेदसे होती है अथवा भावसे तीनों वेदोंसे होती है। द्रव्यकी अपेक्षा तो पुरुषलिंगसे ही होती है। यथा—

सिद्धिः सिद्धिगतौ पुंसां स्यान्मनुष्यगतावपि।
अवेदत्वेन सा वेदत्रितयाद्वास्ति भावतः ॥ ७ ॥
पुल्लिंगेनैव तु साक्षाद्द्रव्यतो० इत्यादि।

अकलंकदेव भी कहते हैं कि अतीतको विषय करनेवाले नयकी अपेक्षासे सामान्यतः तीनों वेदोसे सिद्धि होती है भावकी अपेक्षा, न कि द्रव्यकी अपेक्षा। द्रव्यकी अपेक्षासे तो पुरुषवेदसे ही सिद्धि होती है। यथा—

अतीतगोचरनयापेक्षया अविशेषेण त्रिभ्यो वेदेभ्यो सिद्धिर्भवति भावं प्रति, न तु द्रव्यं प्रति। द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिंगेनैव सिद्धिः।—राजवार्तिक।

भगवत्पूज्यपाद देवनन्दी लिखते हैं कि लिंगकी अपेक्षा कौनसे लिंगसे सिद्धि होती है? उत्तर देते हैं अवेदसे अथवा भावकी अपेक्षा तीनों वेदोसे सिद्धि होती है, द्रव्यकी अपेक्षा तीनों वेदोंसे सिद्धि नहीं होती है किन्तु द्रव्यकी अपेक्षासे एक पुंलिंगसे ही सिद्धि होती है। यथा—

लिंगेन केन सिद्धिः? अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिः भावतो न तु द्रव्यतः, द्रव्यतः पुल्लिंगेनैव।
सर्वार्थसिद्धिः।

आद्य गुरु कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि भावपुरुषवेदका वेदन करनेवाले द्रव्यपुरुष क्षपकश्रेणिमें आरोहण करते हैं, शेष भाव॰

स्त्रीवेद और भावनपुंसकवेदके उदयसे भी द्रव्यपुरुष क्षपकश्रेणिमें आरोहण करते हैं। तथा ध्यानसे उपयुक्त होकर वे सब सिद्धि पदको प्राप्त करते हैं। यथा—

पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा।
सेसोदएण वि तहा ज्झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ॥१॥
—प्राकृत सिद्धभक्तौ।

इन सब उद्धरणोंसे निश्चित होता है कि द्रव्यपुरुषवेद वाले जीवोंके तीनों भाववेद होते हैं। इसका तात्पर्य ही है जो ऊपर कह आये हैं कि किसी द्रव्यपुरुषवेदवाले जीवके भाव पुरुषवेद, किसीके भावस्त्रीवेद और किसीके भावनपुंसकवेद होता है। द्रव्यपुरुषवेद और तीन भाववेदवाले जीव भगवद्वीरसेनके कथनानुसार मनुष्यपर्याप्त और मनुषिणी हैं। उक्त आगमोंके अनुसार इन दोनोंके द्रव्यवेद द्रव्यपुरुषवेद होता है। अतः मनुष्यगतिकी अपेक्षा षट्खंडागमका कथन मुख्यतः इन्हीं दोनों भेदोंमें पाया जाता है। मनुष्यसामान्यमें मनुष्यपर्याप्त मनुषिणी और अपर्याप्त मनुष्य तीनों आते हैं अतः मनुष्यसामान्य सम्बन्धी कोई कथन पर्याप्तमनुष्योंमें घटित होता है और कोई अपर्याप्तमनुष्योंमें मुख्यतः घटित होता है। अस्तु, आगमान्तरोंके अनुसार मनुषिणीके भी द्रव्यवेद पुरुषवेद होता है यह निश्चित है। द्रव्यपुरुषवेद और भावस्त्रीवेदवाली ही भावमनुषिणी होती है, इसको भावस्त्रीके नामसे भी ग्रन्थकार लिखते हैं। ऐसी भावमनुषिणियां या भावस्त्रियां जन्मसे ही अर्थात् विग्रहगति के समयोंके बाद से ही होती

हैं और अपने मरणपर्यन्त रहती हैं। एक ही भवमें किसी एक द्रव्यवेदके रहते हुए भाववेदकी अलटा–पलटी नहीं होती है। यह कथन कालानुयोगद्वार और अन्तरानुगमद्वारसे भली भांति सिद्ध है। यद्यपि मनुषिणीके तीनो द्रव्यवेद होते है परन्तु भावस्त्री के द्रव्यवेद मेहनाद्यात्मक पुरुषाकार होता है यह बात उक्त सब आगमोसे एक सिरे से सिद्ध है। स्त्रीवेदका उदय वाला जीव मेहनाद्यात्मक पुरुषाकार शरीर की रचना जन्मसे ही करता है यह बात आगेके प्रकरण से जानिये।

स्त्रीवेदका उदयवाला जीव पुरुषाकार शरीर भी बनाता है।

कुछ लोगोंका यह खयाल है कि " स्त्रीवेदका उदयवाला जीव योन्यात्मक द्रव्यशरीर ही बनाता है। अन्यवेदोंका उदय उसके बादमें हो जाता है। पुरुषवेदका उदयवाला जीव प्रथमत अपना लिंगात्मक द्रव्यशरीर ही बनाता है। बादमें उसके अन्यवेदोका उदय होता है और नपुसकवेदका उदयवाला जीव प्रथमत. अपना शरीर उभयलिंगसे व्यतिरिक्त बनाता है पश्चात् उसके अन्यवेदोका उदय हो जाता है। इस तरह तिर्यंच और मनुष्योके तीन द्रव्यवेदोंके साथ तीन तीन भाववेद हो जाते हैं। इसीका नाम वेदोंकी समविषमता है " परन्तु यह खयाल गलत है। आगम-

प्रमाणके अभावमें हम तो इस मनगढन्त कल्पनाको थोथी कल्पना समझते हैं । इसतरह वेदोंकी अलटा-पलटी होती रहेगी तो किसीके भी एक नियतवेद नहीं पाया जायगा और एक ही भवमें भाववेदोंकी एक ही जीवके कितनी ही वार अलटा-पलटी हो जायगी ।

जो कि आगमसे विरुद्ध जा पड़ेगी । यह ऊपर प्रकरणमें सप्रमाण कहा जाचुका है कि एक जीवके एक भवमें भाववेद भी एक ही होता है । कषायें जैसे अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् बदल जाती हैं उस तरह भाववेद नहीं बदलता है । जन्मसे लेकर मरणतक एक ही भाववेदका उदय रहता है । ऐसी हालतमें तिर्यंचगति और मनुष्यगतिमें भी जिस किसी भाववेदका उदय जन्मके समय विग्रह गतिसे ही प्रारंभ हो जाता है उसी भाववेदका उदय मरण पर्यन्त रहता है ।

जैसा भाववेद हो वैसा ही द्रव्यवेद हो तब तो दोनोंमें समानता है और भाववेद और ही हो और द्रव्यवेद कुछ और ही हो तब द्रव्यवेद और भाववेदमें असमानता विषमता हो जाती है । यह वेदोंकी समानता और असमानता जन्मके समयसे ही होती है ।

जिस किसी जीवके विग्रहगतिमें स्त्रीवेदका उदय है, वह जीव अपना द्रव्यवेद द्रव्यस्त्रीका भी बनाता है, द्रव्यपुरुषका भी बनाता और द्रव्यनपुंसकका भी बनाता है। ऐसा ही पुरुषवेद और नपुंसकवेदके विषयमें भी समझना चाहिए ।

यह भी हम कह चुके हैं कि छट्ठे गुणस्थानसे नीचेके पांचों गुणस्थानवाले स्त्रीवेदके उदयवाले जीवोंके तीनों प्रकारके द्रव्यशरीर होते हैं और पांचवे गुणस्थानसे ऊपरके भावस्त्रीवेदी जीवोंके द्रव्यपुरुषाकार शरीर ही होता है। भावनपुंसकवेदके उदयवाले जीवोंके और पुरुषवेदके उदयवाले जीवोंके बाबत भी यही बात है।

भावपुरुषवेदी जीव पुरुषशरीरको बनाता है इस विषयमें तो कोई आश्चर्य है ही नहीं। भावस्त्रीवेदी और भावनपुंसक भी जन्मसे ही पुरुषाकार शरीर बनाते हैं यह एक आश्चर्य प्रतीत होता इसी विषयमें एक दो उद्धरण यहा पर देते हैं। जिससे यह विषय पूर्ण स्पष्ट हो जयगा।

अंतरविधानमें स्त्रीवेदी जीवोंके एक जीवकी अपेक्षासे प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणका उत्कृष्ट अन्तर पल्योपमशतपृथक्त्व कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई एक स्त्रीवेदीजीव इन चार गुणस्थानवाला होकर फिर वह कितने काल बाद उन गुणस्थानको प्राप्त होता है? यथा—

असंजदसम्मादिट्ठिप्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि? णाणाजीवं पडुच्च णत्थि अंतरं णिरंतरं। एगजीवं पडुच्च जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कस्सेण पलिदोवसमदपुधत्तं। १८४-१८५-१८६।

यहां पर सूत्र १७८ से 'वेदाणुवादेण इत्थिवेदेसु' इन दो पदोंकी अनुवृत्ति आती है। इसलिए इन सूत्रोंका अर्थ यह हुआ

कि वेदके अनुवादसे स्त्रीवेदियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टियोंको आदि लेकर अप्रमत्तसंयतपर्यन्तके जीवोंका अन्तर कितना है ? उत्तर देते हैं कि नाना जीवोंकी अपेक्षाको लेकर तो इन गुणस्थानोंका अन्तर स्त्रीवेदी जीवोंमें नही है। क्योंकि भावस्त्रीवेदी नानाजीवोंके ये गुणस्थान हमेशह पाये जाते हैं, इसलिए नानाजीवोंके सब गुणस्थान अन्तर रहित निरंतर होते हैं। एक जीवकी अपेक्षा इन गुणस्थानोंका अन्तरकाल जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त है। क्योंकि अन्य-गुणस्थानको प्राप्त होकर पुनः लौटकर वह जीव उसी गुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्तके बाद आजाता है। उत्कृष्टसे अन्तर पल्योपमशत-पृथक्त्व है।

तीनसौ पल्योंसे ऊपर और नौसौ पल्योंसे नीचे तकके कालकी संज्ञा पल्योपमशतपृथक्त्व है। इसलिए इसका तात्पर्य यह हुआ कि कोई एक स्त्रीवेद का उदय वाला जीव अधिक से अधिक इतने उत्कृष्ट काल तक स्त्रीवेदियोंमें ही परिभ्रमण करता रहता है। उनके प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानका यह उत्कृष्ट अन्तर धवलाकारने इसप्रकार घटित किया है—

पमत्तस्स उच्चदे— एक्को अट्ठावीसमोहसंतकम्मिओ अण्णवेदो इत्थिवेदमणुस्सेसु उववण्णो। गब्भादिअट्ठवस्सिओ वेदगसम्मत्तं अप्पमत्तगुणं च जुगवं पडिवण्णो (१) पुणो पमत्तो जादो (२) मिच्छत्तं गंतूण अंतरिदो, थीवेदट्ठिदिं परिभमिय पमत्तो जादो, लद्धमंतरं (३) मदो देवो जादो

अट्ठवस्सेहि तीहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणिया त्थीवेदट्ठिदी, लद्धमुक्कस्संतरं । एवमपमत्तस्स वि उक्कस्संतरं भाणिदव्वं ।

इसका आशय यह है कि प्रमत्तसंयतका उत्कृष्ट अन्तरकाल बताते हैं—मोहनीयकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला कोई एक अन्यवेदी जीव स्त्रीवेदी मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ, गर्भसे लेकर आठवर्षका होकर वेदकसम्यक्त्व और अप्रमत्त गुणस्थानको एक साथ प्राप्त हुआ (१) पुनः प्रमत्तसंयत गुणस्थानवाला हुआ (२) मिथ्यात्वको प्राप्त होकर प्रमत्तसंयत गुणस्थानका अन्तर प्रारंभ कर स्त्रीवेदकी उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण परिभ्रमण कर (कुछ काल अवशिष्ट रह जानेपर उसी क्रमसे स्त्रीवेदी मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ गर्भजन्मसे आठवर्षका होकर सम्यक्त्व और संयमको एक साथ प्राप्त होकर अप्रमत्त हुआ) अप्रमत्तसे प्रमत्त हुआ (३) मरा और पुरुषवेदी देव हुआ । इस प्रकार आठवर्ष और तीन अन्तर्मुहूर्तसे कम स्त्रीवेदकी स्थिति प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर लब्ध होता है । इसी प्रकार अप्रमत्तसंयतका भी उत्कृष्ट अन्तर कहना चाहिए, क्योंकि उक्त कथनसे इसमें कोई विशेषता नहीं है ।

यहांपर अन्तर प्रारंभ करनेका जो पहला भव है, उसमें भी उस भावस्त्रीवेदी जीवने मनुष्योंमें उत्पन्न होकर अपना शरीर पुरुषाकार बनाया है, आठ वर्षतक मिथ्यादृष्टि रहकर सम्यक्त्व और अप्रमत्तसंयमको एक साथ प्राप्त किया है । क्योंकि बिना द्रव्यपुरुषाकार शरीरके अप्रमत्त गुणस्थानको स्त्रीवेदी जीव कैसे

प्राप्त कर सकता है। अन्तके भवमें भी वह जीव मिथ्यात्व गुण-स्थानमें उत्पन्न होकर अपना शरीर द्रव्यपुरुषके आकार बनाता है और आठ वर्षके अनन्तर संयमको प्राप्त होता है। अन्यथा पुरुषाकार शरीरके विना संयमको प्राप्त होकर अन्तर समाप्त कैसे कर सकता है। पहली वारसे लेकर अन्तिमवार तक जब तक कि प्रमत्त-अप्रमत्तको प्राप्त होकर स्त्रीवेदका अन्तर समाप्त नहीं कर-लेता है तब तक वह जीव स्त्रीवेदी ही रहता है।

इसीप्रकार अपूर्वउपशमक और अनिवृत्तिउपशमक नामके आठवें नौवें गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तर, पल्योपमशतपृथक्त्व एक भावस्त्रीवेदी जीवके कहा गया है। लेख बढ़ जानेके भयसे उसको हमने यहां नहीं दिया है। करकंकण को आरसी की जरूरत नहीं है, पांचवें खंडका अन्तर विधान देख जाइये।

यहां पर भी भावस्त्रीवेदी' मनुष्योंमें उत्पन्न करा कर आठ वर्षके अनन्तर उक्त दो गुणस्थानोंका पल्योपमशतपृथक्त्व अन्तर प्रारंभ किया गया है और इतने कालमें से कुछ काल कम रहने पर उसीतरह द्रव्यपुरुषवेदी मनुष्योंमें उत्पन्न कराकर अन्तर काल समाप्त किया गया है। इससे मालूम होता है कि भावस्त्रीवेदी जीव मनुष्योंमें उत्पन्न होकर अपना शरीर द्रव्यपुरुषवेदके आकार भी प्रथमत ही बनाता है। इस समय वह भावस्त्रीवेदी जीव जन्म के प्रथमद्वितीयान्तर्मुहूर्त में निर्वृत्यपर्याप्तक रहता है, बाद शरीरपर्याप्तिके पूर्ण हो जाने पर पर्याप्त होता है और विग्रहगतिके बाद विरुद्धनामकर्मके उदयमें आजानेके कारण द्रव्यपुरुषाकृति शरीर

बनाता है। यह बात ' कहिं विग्रहा ' इस गोम्मट गाथासे सिद्ध है।

अन्तर प्रारंभ करने और समाप्त करनेके समयके आठवर्ष और कुछ अन्तर्मुहूर्तोंको छोडकर मध्यकालमें वह स्त्रीवेदी अनेक वार देवियोंमें भी उत्पन्न होता है, पचेन्द्रियतिर्यंचयोनिनियोंमें उत्पन्न होता है, मानुषियोंमें उत्पन्न होता है। उनमें उत्पन्न होकर देवगतिमें तो द्रव्यस्त्रीशरीरकी ही रचना है, तिर्यंचो और मनुष्योंमें उत्पन्न होकर कभी स्त्रीशरीर कभी पुरुषशरीर और कभी नपुसकशरीर की रचना करता है। इस परिभ्रमणमें स्त्रीवेदी ही रहता है। अतएव वह जीव नरकमें नहीं जाता है, तिर्यंच और मनुष्य सम्मूर्छनोंमें उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि इन सबमें एक भावनपुसकवेद ही होता है। देवोंमें भी उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि देवोंमें एक भावपुरुषवेद ही होता है। उन तिर्यंचमनुष्योंमें भी उत्पन्न नहीं होता है। जिनके कि स्त्रीवेदके अलावा वेदोंका उदय है। द्रव्यपुरुषवेदी शरीरको बनाये विना अन्तिम भवमें किसी भी तरह छट्ठेसे नौवें तकका अन्तर वह भावस्त्रीवेदी जीव कभी समाप्त नहीं कर सकता है। और न ही प्रारंभ कर सकता है क्योंकि ये गुणस्थान द्रव्यपुरुषवेदके विना किसी भी हालतमें हो नहीं सकते।

भावनपुसकवेदवाले जीवके भी प्रमत्तादिगुणस्थानोंका अन्तर पडता है। वह देवगतिको छोडकर अन्यत्र सर्वत्र उत्पन्न हो हो कर अन्तर पूर्ण करता है। भावनपुंसकवेदी भी भाव स्त्रीवेदवाला

की तरह" द्रव्यमनुष्यशरीरसे ही प्रमत्तादि गुणस्थानों का अन्तर प्रारंभ करता है। नपुंसकवेदकी उत्कृष्ट स्थितिमें से कुछ कालके अवशिष्ट रह जाने पर मनुष्यगतिमें उत्पन्न होकर वहां द्रव्यपुरुषशरीर बनाकर ही अन्तर समाप्त करता है। नपुंसकवेद की उत्कृष्ट स्थिति अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण है। पुरुषवेद की उत्कृष्ट स्थिति सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण है। ये भी भाव स्त्रीवेद की तरह ही प्रमत्तादि गुणस्थानोंका अन्तर प्रारंभ करते हैं और समाप्त करते हैं। प्रारभ और अन्तरके समयमें तीनों ही भाववेदी द्रव्यपुरुषवेद शरीरकी रचना करतें हैं। नपुसकवेदी पंचेन्द्रियतिर्यंचोको छोड़कर, पुरुषवेदी मनुष्यपर्यायोको छोडकर जिन भी नपुसकों में उत्पन्न होता है वहा तो द्रव्यनपुंसक शरीर ही धारण करता है। देवों में वह उत्पन्न होता ही नही है। इनके अलावा अन्य तिर्यंच-मनुष्यों में कभी कोईसा तो कभी कोईसा शरीर धारण करता रहता है। सर्वत्र भाववेद नपुसक ही रहता है। इस पद्धतिके अनुसार भावपुरुषवेदी भी यथासंभव स्थानो में कही तीनो द्रव्यवेदके शरीर और देवों मे द्रव्यपुरुषवेदका शरीर ही बनाता है। जिन जीवो में भावनपुंसकवेद ही है उनमें यह उत्पन्न भी नहीं होता है और न उनका शरीर ही धारण करता है। तात्पर्य यह है कि ' कहिं विसमा ' इसके अनुसार सभी भाववेदी भावस्त्रीवेदी जीव संभव स्थानो में कभी द्रव्यस्त्रीका कभी द्रव्यपुरुष का और कभी द्रव्यनपुंसकोंका शरीर जन्मसे ही रचते हैं।

आगमके उक्त प्रमाणोंके अनुसार कोईसा भी भाववेदी संभव स्थानोंमें तीनों द्रव्यवेदों संबन्धी द्रव्यशरीर भिन्न भिन्न भवोंमें बनाते रहते हैं। भावस्त्रीवेदी जीव द्रव्यपुरुषका शरीर भी बनाता है और द्रव्यपुरुष शरीरके होते हुए संयमस्थानोको प्राप्त होता है। ऐसे भावस्त्रीवेदी जीव मिथ्यात्व और सासादनमें पर्याप्त और अपर्याप्त भी होते हैं और शेष सब गुणस्थानोंमें पर्याप्त ही होते है। संजदस्थान अर्थात् प्रमत्तादि नौ गुणस्थान इनके होते ही हैं। फिर नं. ९३ सूत्रमें संजदशब्दके होनेमें कौनसी बाधा है। अतः जो जन्मसे ही भावसे स्त्रीवेदी है और द्रव्यपुरुषवेदी भी है। उसकी अपेक्षा नं. ९३ वेंमें भी सजदशब्द होना ही चाहिए। अन्यथा भावस्त्रीवेदीके पर्याप्तता और अपर्याप्तताका विधान छूट जाता है। जिससे षट्खंडागमका कथन अधूरा रह जाता है। द्रव्यस्त्री तो एक प्रकारसे इसकी छोटी बहन है, वह इस भावस्त्रीके बराबर गमन करने में असमर्थ है। फिर भी जहा तक गमन कर सकती है वहा तकका विधान उसके लिए भी हो जाता है। अतएव द्रव्यस्त्रियोंके लिए भावस्त्रियोंसे जुदा कथन नहीं है। क्योंकि षट्खंडागमका यह कथन द्रव्यकी अपेक्षा नही है। अस्तु, भावस्त्री द्रव्यपुरुषका शरीर जन्म से ही बनाती है और पर्याप्त–अपर्याप्त भी होती है यह बात आगमसे निर्बाध सिद्ध है।

इस द्रव्यपुरुष शरीरधारी भावस्त्रीवेदी जीवके इस पर्याप्तता और अपर्याप्तताकी विधि सूत्र नं. ९३ वें के द्वारा होती है जिसके कि अनुसार आचार्योंने भावस्त्रीको पर्याप्त

और अपर्याप्त लिखा है। सिद्धि बात और है और विधि बात और है। विधि के विना सिद्धि नहीं होती है। द्रव्यपक्षियोंको मार्गणाओं में पहले शरीरोंकी विधि बताकर द्रव्यशरीरोंकी सिद्धि बताना चाहिए। विधि बताये विना आदिकी चार मार्गणाओं में द्रव्यवेदकी सिद्धिका ढिंढोरा पीटना कथमपि उपयुक्त नहीं है। आदिकी चार मार्गणाएं भी भावमार्गणाएं हैं।

वेद—परिवर्तन।

एक जीव के एक भवमें जन्मसे लेकर मरण तक एक ही नियत वेदका उदय रहता है। ऐसा जीव किसी भी गतिका क्यों न हो। उसके जब कभी भी वेदका उदय बदलता है तो वह उस भवके छोड़ देने पर भवान्तर में ही बदलता है। यह अटल सिद्धान्त है।

मेरे कानमें दूसरी तरफ से यह बात आई है कि धवलाकी उस पंक्तिका भाव यह है कि वह पंक्ति उनके लिए है जिन में वेद—वैषम्य नहीं होता है परन्तु जिनमें वेदवैषम्य होता है उनके लिए नहीं है। अर्थात् वेदवैषम्य वाले जीवोंके वेदका परिवर्तन एक ही भवमें हो जाता है।

इस सम्बन्धमें पहली बात तो यह है कि सत्प्ररूपणाके सूत्र नं. १०७. में असंज्ञिमिथ्यादृष्टियोंको आदि लेकर संयतासंयत

गुणस्थान तकके तिर्यंचोंके तीन वेद कहे गये हैं। इसी सूत्रकी व्याख्यामें यह कहा गया है कि कषायाणां वेदनां क्रमेणैव प्रवृत्तिर्नाक्रमेण पर्यायत्वात्। कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदा आजन्मन आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात्।

अर्थात् वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है, अक्रमसे नहीं होती। क्योंकि वेद जीवोंकी पर्याय है। एक ही भवमें क्रमसे प्रवृत्ति हो जाती होगी। इसके लिए कहते हैं कि कषायोंकी तरह वेद अन्तमुहूर्त स्थायी नहीं हैं। तो कुछ कम या जियादह देर तक स्थायी रहते होंगे? इसके उपलक्ष्यमें कहते हैं कि जन्मसे लेकर मरण तक उस वेदका उदय रहता है। अतः स्पष्ट है एक भवमें एक ही वेदका उदय रहता है। बदलता है तो भवान्तरमें ही बदलता है। इस बातकी पुष्टि आगेके उदाहरणोंसे और भी हो जाती है।

इससे यह मालूम होता है कि यह पंक्ति केवल उन जीवोंके लिए नहीं है जिनमें कि द्रव्यभाववेदोंकी समानता है। दूसरे उनमें तो समानता 'पाएण समा' इत्यादि वाक्योंसे ही सिद्ध है अतः यह पंक्ति खास उन जीवोंके लिए ही है जिनमें कि वेदवैषम्य होता है।

तीसरी बात यह है कि वेदपरिवर्तनके दृष्टान्त जो धवला में दिये गये हैं उनमें सब जगह भवान्तरमें वेदका परिवर्तन बतलाया गया है। एक ही भवमें एक जीवके वेदपरिवर्तनका दृष्टान्त देखने में

नहीं आया है। इस समाधानके कुछ प्रमाण नीचे दिये जाते हैं। यथा—

वेदाणुवादेण इत्थिवेदा केवचिरं कालादो होंति? जहण्णेण एगसमओ।

अर्थात् वेदके अनुवादसे स्त्रीवेद कितने कालतक रहता है? जघन्यसे एक समय तक रहता है।

यह एक समय किसप्रकार घटित होता है, इस विषयमें धवलाकार कहते हैं—

उवसमसेढीदो ओदरिय सवेदो होदूण बिदियसमए मुदस्स पुरिसवेदेण परिणयस्स एगसमओवलंभादो।

अर्थात् उपशम श्रेणिसे उतरकर सवेद होकर द्वितीय समयमें मृत्युको प्राप्त होकर पुरुषवेदरूप परिणत हुए जीवके स्त्रीवेदका काल एक समय उपलब्ध होता है।

इसका स्पष्टीकरण यह है कि कोई एक जीव स्त्रीवेदके उदयसे उपशमश्रेणिपै चढ़ा, अवेदभागमें अपगतवेद हुआ, पुनः उतरकर अपने उसी स्त्रीवेदसे युक्त हुआ। एक समयतक स्त्रीवेदी होकर मर गया, दूसरे समयमें पुरुषवेदी देव हो गया। इसप्रकार स्त्रीवेदका जघन्य काल एक समय प्रमाण कहा गया है। यहां एक ही जीव स्त्रीवेदको छोड़कर परभवमें ही पुरुषवेदवाला हुआ कहा गया है। यदि एक ही भवमें वेदपरिवर्तन माना होता तो सूत्रमें ऐसा

कहनेकी आवश्यकता न थी। इसीप्रकार नपुंसक वेदका जघन्य काल एक समयका कहा गया है और उसका परिवर्तन भी पर भवमें ही कहा गया है। यहां पर भी नपुंसक मृतके ही परभवमें पुरुषवेदकी उत्पत्ति कही गई है। यथा–' णवुंसयवेदोदएण उवसमसेडिं चडिय ओदरिय सवेदो होदूण विदियसमए कालं करिय पुरिसवेदं गदस्स एगसमयदंसणादो '। एक उदाहरण और सुन लीजिये—

एक्को अट्ठावीससंतकम्मिओ थीवेदेसु कुक्कुडमक्कडादीसु उववज्जिय वे मासे गब्भे अच्छिदूण णिप्फिडिय मुहुत्तपुधत्तस्सुवरि सम्मत्तं संजमासंजमं च जुगवं घेतूण वेमासमुहुत्तपुधत्तूणपुव्वकोडिं संजमासंजममणुपालिय मदो देवो जादो त्ति।

अर्थात् मोहकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला जीव स्त्रीवेदवाले कुर्कट–मर्कट आदिमें उत्पन्न होकर दो महीने पर्यन्त गर्भमें रहकर उदरसे बाहर निकला, मुहूर्तपृथक्त्व अर्थात् ३–९ मुहूर्त केबाद सम्यक्त्व और संयमासंयमको एक साथ ग्रहणकर दो मास और मुहूर्तपृथक्त्व कम पूर्वकोटि तक संयमासंयमका पालन कर मरा और देव हुआ।

इस उदाहरणमें भी स्त्रीवेदसे पुरुषवेदका होना पर भवमें ही कहा गया है। ऐसे और भी अनेकों उदाहरण हैं जिनमें वेदोंका परिवर्तन पर भवमें ही कहा गया है, इससे हम जानते हैं कि

एक ही भवमें वेदोंका परिवर्तन नहीं होता है। धवलमें ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें पर भवमें ही वेदका बदलना कहा गया है। कचित् स्थलोंमें ' भवे ' इत्यादि शब्द नहीं भी कहे गये हो वहां पर भी इस नियमके अनुसार पर भवमें ही वेद बदलता है ऐसा समझलेना भी उपयुक्त नहीं है अन्यथा ग्रन्थमें पूर्वापर विरोध अनिवार्य हो जायगा।

तेरानवें सूत्र पर विचार।

पूर्वके प्रकरणोंसे यह स्पष्ट हो गया कि आदिके सौ सूत्रोंमें द्रव्यवेद नहीं कहा गया है। किन्तु गत्यादिरूप भाव जीव ही कहे गये हैं। अब यह एक आशंका व्यर्थ है कि पर्याप्तमनुष्यका शरीर भी पुरुषाकार है और भावस्त्रीका शरीर भी पुरुषाकार है इस लिए शरीरकी समानता होनेके कारण भावमनुषिणीका अन्तर्भाव पर्याप्तमनुष्योंमें हो जाता है। इसलिए न. ९२-९३ में की मनुषिणी द्रव्यस्त्री ही है। यह शंका तब ठीक हो सकती है यदि शरीरोंकी यहां प्रधानता हो। शरीरोंकी यहां प्रधानता नहीं है किन्तु प्रधानता यहां पर भावोंकी है। अत एव पर्याप्तमनुष्योंसे मनुषिणियां जुदी कही गई हैं। जिसतरह कि द्रव्यप्रमाणादि सात अनुयोगोंमें आगत मनुषिणी भावस्त्री है अन्यथा उन अनुयोगोंमें मनुषीको द्रव्यस्त्री मानना होगा। ऐसी हालतमें चौदह गुणस्थान और मुक्ति प्रधान द्रव्यस्त्रीके अनिवार्य

हो जायगा । यह कहा जा चुका है कि पर्याप्त-मनुष्यपदसे पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदय युक्त जीवोंका ग्रहण है और मनुषिणीपदसे स्त्रीवेदके उदयवाले जीवोंका ग्रहण है । इससे दोनों शब्दोका वाच्यार्थ स्पष्ट होजाता है । इतना स्पष्ट होते हुए भी प्रकृतको छोड़कर अप्रकृतकी कल्पना करना वस्तुस्वरूपको विपरीत बनाना है ।

अप्रकृतका निवारण करनेके लिए और प्रकृतका विधान करनेके लिए नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपोका सर्वत्र कथन किया गया है । सारे जीवट्ठाण में तत्परिणतनो-आगमभाव जीवोकी अपेक्षासे कथन है । अतः उसमें द्रव्यशरीर या द्रव्यवेद को लाकर खड़ा करना उचित नही है । द्रव्यवेद के विना पर्याप्तमनुष्य और मनुषिणी होते ही न हो तब द्रव्यशरीर की कल्पना शोभा देती है । बार बार कहा जा चुका है कि विग्रहग-तिके जीवोमें भी मनुष्य और मनुषिणी यह व्यपदेश पाया जाता है । जहा पर कि उनके औदारिक शरीर नहीं हैं । विग्रहगतिमें यह व्यपदेश केवल भाव की ही अपेक्षासे है । अत. जब की द्रव्य-शरीर के विना भी मनुष्य और मनुषिणी यह व्यपदेश होता है तब द्रव्यशरीर की विधिकी कल्पना कर लेना प्रकृत विषयके विरुद्ध है । जिस अपेक्षासे जो कथन हो उसमें उसी अपेक्षा का सम्बन्ध जोड़ना चाहिए । अत. मनुष्य और मनुषिणी ये भेद द्रव्य-शरीर की अपेक्षासे नही हैं, जब कि दोनोंके एक ही पुरुषाकार शरीर है तब ये दो भेद हो भी कैसे सकते हैं । विना भेद हुए

मनुष्योंमें अन्तर्भाव किया ही किसका जायगा। इसलिए मनुष्य-पर्याप्त और मनुषिणी ये दो भेद भावकी अपेक्षासे ही बनते हैं। भावकी अपेक्षा मनुषिणियां पर्याप्तमनुष्योंमें अन्तर्भाव नहीं होती है। द्रव्यशरीरकी अपेक्षा मनुष्य और मनुषिणी ये भेद सर्वथा बनते नहीं है। ये भेद तो भावकी अपेक्षासे ही बनते हैं। जब भावकी अपेक्षा भेद है तब भावकी अपेक्षासे मनुष्यपर्याप्तो में मनुषिणियोंका समावेश नहीं होता है।

किंच— मनुषिणी भावस्त्रीविशिष्ट मनुष्यगत्यात्मक भाव जीव है और पर्याप्तमनुष्य भावपुरुष और भावनपुंसक विशिष्ट मनुष्यगत्यात्मक जीव है। दोनों या तीनो मनुष्यगतिके उदयसे जायमान भावमनुष्य गत्यात्मक हैं परन्तु पृथक् पृथक वेदोंके उदयसे विशिष्ट हैं इसलिए एकके भावस्त्रीविशिष्ट मनुष्यगति है और एकके पुरुषविशिष्टमनुष्यगति है तथा एकके नपुंसकविशिष्ट मनुष्यगति है। तीनों भावात्मक हैं। यहा मनुष्यगतिमें वेदप्रधान नहीं है किन्तु गतिप्रधान है यहा आचार्योंने नपुंसक मनुष्योंकों और पुरुष मनुष्योंकों पर्याप्त मनुष्यो में अन्तर्भाव किया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि दोनोंकी सामान्य कार्यावली अत्यधिक मिलती जुलती है। जहा कहीं विशेषता है वह पृथक कह दी गई है।

मनुषिणीका अन्तर्भाव नही किया है उसे पर्याप्तमनुष्योसे जुदा ही रक्खा है। इसका कारण यह है कि मनुष्यपर्याप्त और मनुषिणी की अत्यधिक कार्यावली ऐसी है जो मनुष्यपर्याप्तसे सर्वथा भिन्न है। आचार्य वीरसेन पादपूज्य कहते हैं कि मनुष्यपर्योप्तसे पुरुषवेद

और नपुंसकवेदके उदयवाले जीवोंका ग्रहण है। तथा उनमें मनुष्योंकी जो एक चतुर्थांश राशि कही गई है उसको संख्यानुयोगद्वारमें द्विवेदराशि कहा है। स्वयं षट्खंडागमकारने जो चार भेद किये हैं उनमें मनुषिणी भेद तो जुदा कहा है परन्तु गर्भज नपुंसक भेद को जुदा नहीं कहा है। अपर्याप्त मनुष्यों में तो उसका अन्तर्भाव है नहीं। क्योंकि अपर्याप्तमनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं। मनुषिणीमें भी उसका अन्तर्भाव नहीं है। क्योंकि मनुषिणीके एक स्त्रीवेदका ही उदय है अत. गर्भज नपुंसकोंका अन्तर्भाव मनुष्य पर्याप्तमें ही किया है ऐसा स्पष्ट मालूम पड़ता है। चतुर्दश गुणस्थानवर्ती भावनपुंसक मनुष्य मनुष्यगतिमें हैं ही नहीं ऐसा तो कहा ही नहीं जा सकता। क्योंकि भावनपुंसक नौवें गुणस्थानतक होता है ऐसा स्वयं आचार्यने कहा है। जो मनुष्यपर्याप्तकको छोड़कर अलग नहीं कहा गया है। फिर भी चौथे गुणस्थानमें उत्पन्न नहीं होता है। यह हम सं० जैन हितेच्छु किशनगढ़ में लिख चुके हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्यपर्याप्तक भावमनुष्य है, मनुषिणी भी भावमनुषिणी है शरीर यहां भावों में अप्रयोजनीभूत हैं इसलिए शरीरोंकी यहां विवक्षा नहीं है। विवक्षा सिर्फ भावोंकी है।

अब प्रकृत विषय पर आइये। नं. ९२ वें का सूत्र इसप्रकारका है—

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ। ९२।

मनुषिणियोंमें मनुषिणियां मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि इन दो स्थानोंमें पर्याप्त भी होती हैं और अपर्याप्त भी होती हैं यह इस सूत्रका अर्थ है।

पर्याप्तियोंका और अपर्याप्तियोंका स्वरूप ऊपर एक खास प्रकरणमें कह आये हैं। उनसे द्रव्यवेद सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि भाव मनुषिणियां भी पर्याप्त–अपर्याप्त होती हैं।

सम्मामिच्छाइट्ठि–असंजदसम्मादिट्ठि–संजदासंजद–संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ। ९३।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत इन गुणस्थानोंमें मनुषिणियां नियमसे पर्याप्त होती हैं। यह इस सूत्रका आशय है।

इन नं. ९२–९३ वें सूत्रोंमें मनुषिणियोंके गुणस्थान नहीं कहे गये हैं। गुणस्थान इनमें चौदह होते हैं। वे सूत्र नं. २७ के द्वारा कहे गये हैं। उन गुणस्थानोंमें इन दोनों सूत्रों द्वारा पर्याप्तता–अपर्याप्तता कही गई। इस ९३ वें सूत्रमें से संजदपद निकाल देनेपर भावमनुषिणियोंमें पर्याप्तता–अपर्याप्तता का अभाव हो जाता है, जो कि पर्याप्तता–अपर्याप्तता उनमें भी आवश्यक ही है। जिस मनुषिणीके चौदह गुणस्थानोंका अस्तित्व कहा गया, चौदह गुणस्थानोंमें संख्या कही गई, चौदह गुणस्थानोंमें क्षेत्र कहा गया, चौदह गुणस्थानोंमें स्पर्श कहा गया, चौदह गुणस्थानोंमें काल कहा गया, चौदह गुणस्थानोंमें अन्तर कहा गया, चौदह गुणस्थानोंमें

भाव कहा गया और चौदह ही गुणस्थानोंमें अल्पबहुत्व कहा गया उस मनुषिणिकी के चतुर्दश गुणस्थानोंमें पर्याप्तता–अपर्याप्तता का न कहा जाना ग्रन्थका अधूरापन सिद्ध होता है।

द्रव्यमनुषिणीके न पांचगुणस्थानोंका अस्तित्व किसी सूत्र द्वारा कह गया है, तथा न उसके पांचगुणस्थानो में द्रव्य, क्षेत्र, स्पर्श, काल, अन्तर, भाव और अल्प बहुत्व ही जुदे कहे गये हैं। उस द्रव्यस्त्रीके सारे जीवट्ठाणमें सिर्फ पांच गुणस्थानोंमें पर्याप्तता–अपर्याप्तताका ही जुदा कथन किया जाना क्रमविरुद्ध है, अप्रकृतकथन है। इस अधूरेपनसे और क्रमविरुद्ध अप्रकृत कथनसे महाकर्मप्रकृतिके पूर्णज्ञाता पुष्पदन्त–भूतबली को अज्ञानी सिद्ध करना है।

यह आशंका व्यक्त की जाय कि द्रव्यस्त्रीके विषयका कथन षट्खंडागम जैसे महाशास्त्रमें क्यों नहीं ? इसका एक उत्तर तो यह है कि द्रव्यनपुंसकोंका कथन षट्खंडागममें क्यों नहीं ? जब कि मनुष्यगतिमें गर्भज नपुंसक भी होते हैं। दूसरा उत्तर यह है कि षट्खंडागमके इन आदिके तीन खंडोंमें द्रव्यका प्रकरण ही नहीं है। भावका प्रकरण है अतः मनुष्यगतिके जिन जीवोंके भावस्त्रीवेद का उदय है वे द्रव्यत कोई भी वेदवाले हों भावस्त्रीवेदके उदयके नाते सब एक हैं, इसलिए मनुषिणी में भावकी अपेक्षा शतं सहस्रेकी तरह सबका अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे सहस्रमें सौ अन्तर्भूत हैं तो भी सौ तक ही सौ हैं इसी तरह भावमानुषिणीमें अन्य भावमनुषिणियां भी अन्तर्भूत हैं। द्रव्यवेदकी

अपेक्षा लगाई जाय तो एक मानुषी चौदह गुणस्थानोंको भी पार कर जाती है और दूसरी दो पाचवेंसे आगे नहीं बढ़ पाती हैं, भाववेद एक होते हुए भी अन्य कारणोंसे कमजोरिया हुआ करती हैं। भावमानुषीमें उन अन्यभावमानुषिओंके अन्तर्भूत हो जानेसे पंचम गुणस्थान तकके विषय यथासंभव उनके लिए भी हो जाते हैं।

सजदशब्दको निकाल देने पर भी द्रव्यस्त्रीके स्थानकी पूर्ति तो होगी नही प्रत्युत सूत्रकी असमजसता अवश्य प्रतीत होगी। जो डर अन्य सैंकड़ोसूत्रो में नही है जिनमें कि चौदह गुणस्थानों में मनुषिणीके संख्या–क्षेत्रादि कहे गये हैं फिर इसी एक सूत्रमें सजद-पदके होनेसे द्रव्यस्त्रियोंके मुक्तिका डर क्यो लग जाता है। नं. ९३ वें मे डर है तो मानुषियोके चौदह गुणस्थानों में संख्या क्षेत्र आदिके प्रतिपादक सूत्रों में भी डर है। यदि उनमें डर नहीं है तो न. ९३ वें में भी नही है। यदि नं. ९३ वें की मनुषिणि-योको छोड़कर शेष सब अनुयोगोकी मनुषिणिया भावमनुषिणियां हैं तो फिर संख्यानुयोगमें आगत त्रिचतुर्थांश मनुषिणियां द्रव्य-स्त्रिया कैसे हो सकेंगी?

देवाङ्गना, योनिनी और मनुषिणी इन तीनमें स्त्रीवेदका उदय पाया जाता है। चौथे गुणस्थान तक तीनोका साथ भी पाया जाता है। चौथेसे ऊपर देवांगना का साथ छूट जाता है। पांचवें गुणस्थान में योनिनी और मनुषिणीका साथ रह जाता है। ऊपर षष्ठादिगुणस्थानोंमें योनिनीका साथ भी नहीं है। यहां पर केवल

मनुष्यिनी ही रह जाती है। अतः छठेसे नौवें गुणस्थान तक का स्त्रीवेदी जीव सिवा मनुष्यिनीके और कोई नहीं है। जब स्त्रीवेदी जीव के [illegible] पाये जाते हैं तब मनुष्यिनीके छठेसे नौवें तकके चार गुणस्थानोंके होनेमें कौनसी भारी बाधा है जिससे ९३ वें सूत्रमें संजदपद न रक्खा जाय। नौवें तक स्त्रीवेद होता ही है। यह हम अपने मनसे नहीं कहते हैं। स्वयं षट्खण्डागमकार कहते हैं। यथा—

वेदाणुवादेण इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छाइ-ट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति।

अर्थात् वेदके अनुवादसे स्त्रीवेद और पुरुषवेद असंज्ञिमिथ्या-दृष्टि जीवोंसे आदि लेकर नौवें गुणस्थानतक होते हैं।

पं. मक्खनलालजी कहते हैं वेदोंका कथन भावकी अपेक्षासे है उसमें शरीरके कहनेका कोई कारण नहीं है। उनसे पूछा जाय देवाङ्गना योनिनी और मनुषिणी जो कि भावस्त्रीवेदी हैं इनके कोई शरीर हैं या नहीं। हैं तो भाववेदमें भी शरीर आजाते हैं। नहीं हैं तो देवाङ्गना, योनिनी और मनुषिणी बिना शरीरके सिद्ध हो जाती हैं। फिर उस मनुषिणीके शरीरसिद्ध करनेके लिए आकाश-पातालके कुलावे मिलानेके लिए क्यों जल्दबाजी की जारही है।

स्त्रीवेदी जीवोंकी संख्या देवाङ्गनाओंसे कुछ अधिक है। यह कुछ अधिक योनिनियों और मनुषिणियोंके सिवा और कोई है नहीं। शरीरोंकी यह संख्या नहीं है क्योंकि तिर्यंचगति और

मनुष्यगतिमें जितने स्त्रीवेदी जीव हैं उतने उनके द्रव्यस्त्रीवेदी शरीर नहीं हैं। उतने ही द्रव्यस्त्रीवेदी शरीर माने जावेंगे तो उन-स्त्रीवेदियोंकी संख्या इनमें नहीं आवेगी जिनके कि द्रव्यस्त्रीवेदी शरीर नहीं हैं। इससे भी यह जान लेना सहज है कि स्त्रीवेदियों की संख्या द्रव्यस्त्रीवेदी शरीरोंकी संख्या नहीं है किन्तु अशरीर भावस्त्रीवेदियोंकी संख्या है। इसलिए भी मनुषिणीके द्रव्यशरीर द्रव्यस्त्रीशरीर ही होता है यह मानना अनुचित है। जिन जीवोंकी संख्या अनन्त कही गई है उनके शरीर और द्रव्यवेद अनन्त नहीं हैं। इतना ही नहीं, गति, इन्द्रिय आदि कितनी ही उन उन मार्गणावाले जीवोंकी जितनी जितनी संख्या कही गई है उतने उतने उनके शरीर और द्रव्यवेद नहीं हैं।

मनुषिणी, जन्मसे पुरुषाकार शरीर बनाती है, जन्मसे किसी अपेक्षा पर्याप्त और अपर्याप्त होती है यह बात स्त्रीवेदी जीवके नौगुणस्थान तकके अन्तरविधान और मनुषिणीके गुणस्थानोंके अन्तर विधानसे स्पष्ट हो जाती है। स्त्रीवेदीके नौगुणस्थानोंका अन्तर हम 'स्त्रीवेदका उदयवाला जीव पुरुषाकार शरीर भी बनाता है' इस प्रकरणमें दे आये हैं। मनुषिणीके गुणस्थानोंका अन्तर यहां और दिये देते हैं। ध्यानसे सुनिये—

... अन्तरविधानमें मनुषिणीके प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुण-स्थानोंका अन्तर तीन अन्तर्मुहूर्त और आठवर्ष कम आठपूर्वकोटि कहा गया है। यद्यपि मनुषिणीका उत्कृष्ट काल आठ पूर्वकोटी

और तीन पल्योपमका है परन्तु प्रमत्त—अप्रमत्तका उत्कृष्ट अन्तरकाल मनुषिणीके आठ पूर्वकोटी है। तथथा—

संजदासंजदप्पहुडि अप्पमत्तसंजदाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि? णाणाजीवं पडुच्च णत्थि अंतरं णिरंतरं। ६७। एगजीवं पडुच्च जहण्णेण अंतोमुहुत्तं। ६८। उक्कस्सेण पुव्वकोडिपुधत्तं। ६९।

इन सूत्रोंमें सूत्र नं. ५७ से ' मणुसगदीए मणुस—मणुसपज्जत्त—मणुसिणीसु ' इन पदोंकी अनुवृत्ति आती है। इसलिए इन सूत्रोंका अर्थ यह हुआ कि मनुष्यगतिमें मनुष्य, मनुष्यपर्याप्त और मनुषिणी इन तीनोंमें संयतासंयतसे लेकर अप्रमत्तसंयत तकके गुणस्थानोंका अन्तर कितना है? उत्तर देते हैं कि नाना जीवोंको लेकर इन तीनोंमें इन गुणस्थानोंका अन्तर नहीं है। क्योंकि ये गुणस्थान इन तीनों भेदोंमें निरन्तर पाये जाते हैं। एक जीवकी लेकर इन तीनोंमें इन गुणस्थानोंका अन्तर जघन्यसे तो अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टसे पूर्वकोटिपृथक्त्व प्रमाण है।

यद्यपि तीनो भेदोंमें सामान्यतः इन गुणस्थानोंका अन्तर पूर्वकोटिपृथक्त्व कहा गया है किन्तु धवलाके अनुसार पूर्वकोटिपृथक्त्वका यह तात्पर्य समझना चाहिए कि मनुष्यसामान्यके अड़तालीसपूर्वकोटिया मनुष्यपर्याप्तके चौबीस पूर्वकोटियाँ और मनुषिणीके आठपूर्वकोटिया इन तीनों गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तरकाल है।

मनुष्य, मनुष्यपर्याप्त और मनुष्यिणी ये तीनों संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन गुणस्थानोंको एकवार प्राप्त होकर फिर अधिकसे अधिक कितने कालतक पुन· इन गुणस्थानोंको प्राप्त नहीं होते हैं। इसका उत्तर दिया गया है कि पूर्वकोटिपृथक्त्व पर्यन्त प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् टीकोक्त विधानके अनुसार उक्त विरहकाल उक्त जीवोंके उक्त गुणस्थानोंका पाया जाता है। धवलकार भगवद्वीरसेनने इस अन्तरको इस प्रकार घटित किया है। यहां हम संयतासंयतका अन्तर न देकर प्रमत्त और अप्रमत्त का देते हैं। क्योंकि संयतासंयतका अन्तर द्रव्यस्त्रीमें भी घटित हो जाता है। इसलिए संयतासंयतका अन्तर प्रकृत विषयको इतना पुष्ट नहीं कर सकता जितना कि प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका अन्तर इस विषयको पुष्ट कर सकता है। प्रथम मनुष्य सामान्यके अन्तरका भावानुवाद दिया जाता है।

" मोहकर्मकी अट्ठाईसप्रकृतियोंकी सत्तावाला कोई एक जीव अन्यगतिसे आकर मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ, गर्भजन्मसे आठ वर्षका होकर वेदकसम्यक्त्व और संयमको एक साथ प्राप्त हो अप्रमत्त हुआ (१) दूसरे मुहूर्तमें प्रमत्त हुआ (२) तीसरे मुहूर्तमें मिथ्यात्वको जाकर अन्तर प्रारंभ किया। अड़तालीस पूर्व कोटियोंतक मनुष्यपने में परिभ्रमण कर अन्तक पूर्वकोटिमें आयु बांधकर अप्रमत्तसंयत होकर पुनः प्रमत्त हुआ। इस प्रकार प्रमत्तसंयतका अन्तर लब्ध होता है (३)। पश्चात् मरा और देव हुआ। इस प्रकार तीन अन्तर्मुहूर्त अधिक आठवर्ष कम अड़तालीस पूर्वकोटियां प्रमत्तका अन्तर काल है।

इसीप्रकारका अन्तर काल अप्रमत्तसंयत गुणस्थानका है। विशेषता इतनी है कि प्रमत्तका अन्तरकाल मिथ्यात्वको जाकर प्रारंभ करता है और अप्रमत्तका अन्तरकाल प्रमत्तको जाकर प्रारंभ करता है। इस तरह इन दोनों गुणस्थानोंका अन्तरकाल तीन अन्तर्मुहूर्त और आठ वर्ष कम पूर्वकोटिपृथक्त्व प्रमाण मनुष्यके लब्ध होता है।

धवलाकार कहते हैं कि "पर्याप्तमनुष्य और मनुषिणियोंमें भी इसी प्रकारका अन्तर है। विशेषता यह है कि मनुष्यपर्याप्तकोंमें चौबीसपूर्वकोटी और मनुषिणियोंमें आठ पूर्व कोटीका अन्तर कहना चाहिए।"

इस सूचनाके अनुसार मनुषिणीका प्रमत्त गुणस्थानका अन्तर काल तीन अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष कम आठ पूर्वकोटी प्रमाण इसप्रकार कहा जा सकता है—

"मोहकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला कोई एक जीव अन्य गतिसे आकर मनुषिणियोमे उत्पन्न हुआ, गर्भ जन्मसे आठ वर्षका होकर वेदकसम्यक्त्व और संयमको एक साथ प्राप्त हो अप्रमत्त हुआ (१) (एक अन्तर्मुहूर्त तक अप्रमत्त रह कर) दूसरे अन्तर्मुहूर्तमें प्रमत्त हुआ (२) (एक अन्तर्मुहूर्त तक प्रमत्त रहकर) तीसरे अन्तर्मुहूर्तमें मिथ्यात्वको जाकर (प्रमत्तका) अन्तर प्रारंभ किया। आठ पूर्व कोटियों तक मनुषिणिपनमें परिभ्रमणकर अन्तकी पूर्वकोटीमें आयु बांधकर अप्रमत्त संयत होकर पुन. प्रमत्त हुआ। इसप्रकार प्रमत्त संयतका अन्तर (मनुषिणी)

के लब्ध होता है (३)। पश्चात् मरा और देव हुआ, इस प्रकार तीन अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम आठ कोटियां प्रमत्तका अन्तरकाल होता है।

जैसा प्रमत्तसंयतका अन्तरकाल कहा गया है वैसा ही अप्रमत्त, अपूर्वकरण उपशमक और अनिवृत्ति उपशमक नामके सातवें आठवें और नौवें गुणस्थानोंका अन्तर भी मनुषिणीके कहा गया है। इस कथन परसे इस आशय पर पहुंच जाना सहज है कि मनुषिणी में उत्पन्न हुआ जीव अन्यगतिसे आता है। उसके पहले वह मनुषिणी नहीं होता है। मिथ्यात्व या सासादन भावोंको लेकर आता है। सासादनभावको लेकर आनेवाला सासादनका काल बीत जाने पर मिथ्यात्वको चला जाता है जब तक सासा-दनमें रहता है अपर्याप्त ही रहता है। मिथ्यात्वमें जाकर भी शरीरपर्याप्ति पूर्ण न होने तक अपर्याप्त रहता है। पश्चात् पर्याप्त होता है। मिथ्यात्वमें उत्पन्न होने वाला भी प्रथमान्तर्मुहूर्त तक अपर्याप्त रहता है, अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पर्याप्त हो जाता है इस तरह वह मनुषिणी जीव सासादनमें अपर्याप्तक और मिथ्यात्वमें पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों तरहका होता है। वही जीव आठ वर्षके अनन्तर सम्यक्त्व और संयमको एक साथ प्राप्त कर अप्रमत्तसंयत नामके सातवें गुणस्थानमें पहुंचकर छट्ठेमें आजाता है। जन्मसे आठ वर्षके अनन्तर अप्रमत्त और प्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त होनेवाला यह जन्मसे मनुषिणी है। विचार कीजिये इस जन्म जात मनुषिणीके द्रव्यवेद कौनसा है जिससे वह प्रमत्त

अप्रमत्त को पहुंचती है और इन्हीं गुणस्थानोंको आठ पूर्वकोटी के अनन्तर पुनः पहुंचकर अन्तर समाप्त करने वाली मनुष्यिणीके द्रव्यवेद कौनसा है? जन्मसे आठ वर्षके अनन्तर प्रमत्त-अप्रमत्तको पहुंचकर अन्तर प्रारंभ करके आठ पूर्वकोटी तक मनुष्यिणी में परिभ्रमण करनेवाली और अन्तकी पूर्वकोटीमें मिथ्यात्वमें जन्मकर अपर्याप्तसे पर्याप्त होकर आयु बांधकर आठ वर्षके बाद ही किसी भी समय प्रमत्त-अप्रमत्त को पहुंचकर अन्तर समाप्त करनेवाली यह एक ही मनुष्यिणी है। जुदी जुदी नहीं है। द्रव्यस्त्रीमुक्तिके प्रतिपादकोंको छोड़कर वेदवैषम्यको माननेवाले विद्वानोंको मानना होगा कि इस अन्तर प्रारंभ करनेवाली और समाप्त करनेवाली मनुष्यिणीके द्रव्यवेद विभेद नहीं है।

ऐसा ही अपूर्वकरण उपशामक और अनिवृत्तिकरण उपशामकका अन्तरप्रारंभ करनेवाली और समाप्त करनेवाली मनुष्यिणीके विषयमें समझना चाहिए। इन गुणस्थानोंको भी वह मनुष्यिणी पूर्वोक्त रीत्या जन्मकर अपर्याप्तसे पर्याप्त होकर आठ वर्षके बाद ही इन गुणस्थानोंको पहुंचती है। इस जन्म प्राप्त मनुष्यिणीके भी द्रव्यवेद विभेद नहीं है। अन्तर प्रारंभसे लेकर समाप्ति तक एकही वह मनुष्यिणी रहती है।

सासादनमें मनुष्यिणीका अपर्याप्त होना तो कह दिया गया है। पर्याप्त अवस्थामें मनुष्यिणीके सासादन इसप्रकार होता है कि कोई एक पर्याप्त मिथ्यादृष्टि मनुष्यिणी आठवर्षके अनन्तर उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त कर जब उसका काल कमसेकम एक

एक समय और अधिकसे अधिक छह आवली बाकी रहने पर किसी एक अनन्तानुबन्धीके उदयसे सासादनको प्राप्त होती हैं। उसवक्त वह पर्याप्त है अतः पर्याप्त अवस्थामें इस प्रकार सासादन गुणस्थान है। सम्यग्मिथ्यात्व और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान भी मनुषिणीके गर्भजन्मसे आठवर्षके बाद ही होते हैं, संयतासंयत, प्रमत्तादिसंयत स्थान भी आठ वर्षके बाद ही होते हैं। इस तरह मनुषिणी पहले दूसरे में पर्याप्त–अपर्याप्त और शेष सब गुणस्थानोंमें पर्याप्त ही होती है।

यही बात न. ९२–९३ वेंमे कही गई है कि मनुषिणीयोंमें मनुषिणियां मिथ्यादृष्टि और सासादन दो स्थानोंमें पर्याप्त भी होती हैं और अपर्याप्त भी होती हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत-सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत अर्थात् प्रमत्तादि संयतस्थानोंमें पर्याप्त ही होती हैं। यही बात जीवट्ठाणके मनुषिणी सम्बन्धी अन्तरविधानसे लब्ध होती है। नहीं मानते हैं तो जीवट्ठाणका अन्तरप्रकरण निकालकर पढ़ जाइये।

अन्तर प्रारंभ करनेवाली और समाप्त करनेवाली मनुषिणीके जब कि प्रमत्तादिसंयतस्थान पर्याप्त अवस्थामें पाये जाते हैं तब नं. ९३ वें सूत्रमें उसके संयतस्थानोंमें पर्याप्तता मान लेनेमें कौनसी बड़ी आपत्ति है। मनुषिणी जन्मती भी है, जन्मके समय अपर्याप्त भी होती है, पश्चात् पर्याप्त भी होती है। द्रव्यवेद इसके पुरुषवेद है तभी तो वह जन्मसे आठ वर्षके बाद प्रमत्तादि संयतस्थानोंको

प्राप्त होकर उन संयतस्थानोंका अन्तर प्रारंभ करती है और समाप्त करती है ।

वेदवैषम्य होता है यह अनेक आगमोंसे सिद्ध है । कितने ही आगमोंके प्रमाण हमने ऊपर किसी प्रकरणमें उपस्थित किये हैं । इस प्रकरणसे और स्त्रीवेदके अन्तर प्रकरणसे यह सुनिश्चित होता है कि वह वेदवैषम्य जन्मसे ही होता है । अधबीचमें नहीं होता है । क्योंकि जन्मसे जो वेद होता है वही मरणपर्यन्त होता है । बदलता है तो भवान्तरमें ही बदलता है यह भी हम ऊपरके प्रकरणोंमें सप्रमाण लिख चुके हैं । गोम्मटसारके टीकाकारोंने ' पाएण समा ' को लेकर वेदसाम्यके विषयका कथन किया है, ' कहिं विसमा ' के सम्बन्धमें कचित् कर्मभूमिके तिर्यंचमनुष्योंमें वेदवैषम्य भी होता है इत्यादि थोड़ासा उल्लेख कर दिया है जो समझदारोंके लिए काफी है । ' कहि विसमा ' का यह अर्थ नहीं है कि जब कभी एक ही भवमें वेद बदलकर वेदवैषम्य हो जाय । किन्तु वह वेदवैषम्य गर्भ जन्मसे ही होता है यह अर्थ है

वेदवैषम्य हो कैसे जाता है ? इसका सामान्य उत्तर यह है कि जिस जीवके विग्रहगतिमें स्त्रीवेदका उदय होता है उसके शरीरनामकर्मके साथ साथ मेहननामकर्मका उदय आजाता है तो उसके मेहनाघात्मक शरीर बन जाता है । इसीप्रकार पुरुषवेदके उदयवाले जीवके योनिनामका उदय भी हो जाता है और नपुंसक वेदवालेके भी योनि मेहन नामकर्मके उदयमें आजानेसे वैसा शरीर बनजाता है । बनता है जन्मसे ही न कि जब कभी ।

योनि, मेहन और तव्द्यतिरिक्तनामकर्म आगममें प्रसिद्ध हैं। उनके सम्बन्धमें कम से कम कर्मभूमिके तिर्यंच–मनुष्यों में ऐसा अविनाभाव नहीं है कि जिस भाववेदका उदय हो उसके उसी वेद सम्बन्धी द्रव्य चिन्हका भी उदय हो। अन्यथा वेदवैषम्यके प्रतिपादक आगमोकी कोई कीमत ही न रहेगी।

अब न. ९३ वें सूत्रकी टीकाकी ओर आइये। टीकामें यह शका उठाई गई है कि हुडावसर्पिण्यां सम्यग्दृष्टय स्त्रीषु किं नोत्पद्यते इति चेत्? नोत्पद्यंते, कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्षात् हुडावसर्पिणीमें सम्यग्दृष्टि स्त्रियोमें उत्पन्न क्यो नही होते? यह हुआ प्रश्न, इसका उत्तर देते हैं कि सम्यग्दृष्टि स्त्रियोमें उत्पन्न नहीं होते। पुन शका होती है कि यह कैसे निश्चय किया गया कि स्त्रियोमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नही होते? उत्तर देते हैं कि इसी आर्षसे अर्थात् सूत्र न. ९३ वें से निश्चय किया गया।

यह है शंका और समाधान, इसमें आये हुए 'स्त्रीषु' पदका अर्थ द्रव्यस्त्री किया जाता है जो ठीक नही है। ठीक तब हो सकता है यदि भावस्त्रियोमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता हो, परन्तु सम्यग्दृष्टि भावस्त्रियोमें भी उत्पन्न नहीं होता है। अकलंकदेव पर्याप्त भावमनुषियोके चौदह गुणस्थानोका और पर्याप्त द्रव्यमानुषियोंके आदिके पाच गुणस्थानोका होना बताते हैं। इन दोनो तरह की मानुषियोके लिए लिखते है कि अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये सम्यक्त्वेन सह स्त्रीजननाभावात्। भावलिंगिनी और द्रव्यलिंगिनी अपर्याप्तिक मानुषियोमें आदिके दो ही गुणस्थान होते हैं। क्योकि

सम्यक्त्व के साथ जीव, स्त्रियोंमें नहीं जन्मता है। निश्चित है कि उभय प्रकारकी स्त्रियोमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता है। भगवत्पूज्यपाद कहते हैं कि मानुषियोंमें तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं, पर्याप्तक मानुषियोंमें होते हैं अपर्याप्तक मानुषियोंमें नही होते। इस कथनसे इतना निश्चित होता है कि अपर्याप्त मानुषियोंके तीनों सम्यक्त्वोंमेंसे कोईसा एक भी सम्यक्त्व नही होता है। परन्तु आगे और कहते हैं कि क्षायिक सम्यक्त्व भाववेदसे ही होता। इससे स्पष्ट होता है कि पहले वाक्यका सम्बन्ध द्रव्यमानुषियों और भावमानुषियों दोनोंके लिए है। परन्तु उससे द्रव्यमानुषियोंके भी क्षायिक सम्यक्त्वका पाया जाना सिद्ध होता है अत आगेके वाक्य द्वारा भावमानुषियोंके ही वह क्षायिक सम्यक्त्व होता है ऐसा कह कर द्रव्यमानुषियोंके क्षायिक सम्यक्त्वके होनेका निषेध कर देते हैं अत निश्चित यह होता है कि पर्याप्त भावमानुषियोंके तीनों सम्यक्त्व होते अपर्याप्तकोंके कोईसा भी सम्यक्त्व नही होता है। द्रव्यमानुषियोंके दो ही सम्यक्त्व होते हैं परन्तु अपर्याप्तकोंके न होकर पर्याप्तकोंके ही होते हैं। जब दोनों ही अपर्याप्तमानुषियोंमें तीनोंमें से कोईसा एक भी सम्यक्त्व नही होता है तब यह कैसे माना जा सकता है कि भावमानुषियोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है और केवल द्रव्यमानुषियोंमें ही उत्पन्न नही होता है। अत स्त्रीषु पदका अर्थ केवल द्रव्यस्त्रिया नही है। किन्तु स्त्रीवेदोदययुक्त स्त्रीसामान्य है जिसमें दोनों प्रकार की स्त्रिया अन्तर्भूत हैं।

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥
—रत्नकरंडक.

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसि-वण-भवण-सव्वइत्थीसु ।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ॥
—गोम्मटसार.

इत्यादि प्रवचनोंमें आये हुए स्त्रीपदोंका अर्थ भी दोनों प्रकार की स्त्रियां हैं न कि केवल द्रव्यस्त्रियां ।

धवलाकार भगवद्वीरसेनने इस ' स्त्रीषु ' पदके साथ द्रव्य-पद नहीं जोड़ा है । द्रव्यपदका प्रयोग किये बिना भी यहां पर ' स्त्रीषु ' पदका वाच्यार्थ द्रव्यस्त्रीषु हो जाता है तो ' अस्मादेवार्षाद्द्रव्यस्त्रीणा निर्वृति. सिद्धयेत् ' इस वाक्यमें 'स्त्रीणां' पदके साथ द्रव्यपद क्यों जोड़ा ? इससे मालूम पड़ता है ' स्त्रीषु ' पदका अर्थ केवल द्रव्यस्त्रियां नहीं है । इसीलिए सूरीश्वरने आगेके वाक्यमें द्रव्यपद लगाया है

हुंडावसर्पिण्यां इस पदका आश्रय लेकर भी स्त्रीषु पदका अर्थ द्रव्यस्त्री करना अयुक्त है । अन्यथा इसका अर्थ यह हो जायगा कि हुंडावसर्पिणीके अलावा और और ~ र्पिणियोंमे और उत्सर्पिणियोंमें तथा जहां इन कालोंकी फिरनी नहीं हैं वहा पर सम्यग्दृष्टि द्रव्यस्त्रियो में भी उत्पन्न होता है । परन्तु इनमसे कोईसा भी काल और स्थान क्यो न हो कहीं पर भी सम्यग्दृष्टि द्रव्य-भाव कैसी भी स्त्रियो में उत्पन्न नहीं होता है । यह अटलसिद्धान्त है ।

आगम अनाद्यनिधन है उसमें हेयका त्याग और उपादेय का ग्रहण ये सब विषय वर्णित हैं। भगवान् आदिनाथने अपनी दोनों पुत्रियों से प्रह्लासमें कहा था कि बेटियो! आओ, तुम मानती होंगी कि हम मोक्ष जावेंगीं, नहीं जाओगी, देव भी गये हैं! इससे ही मालुम पड़ जाता है कि द्रव्यस्त्रियोंके लिए मोक्षका निषेध प्रारंभसे ही चला आता है। वीरभगवान् ने भी कहा है कि उत्तमसंहनन-धारी, कुलीन पुरुषको जिनलिंग धारण करने पर मुक्ति होती है। उस वक्त न श्वेताम्बर थे और न ही यापनीय थे। फिर भी यह विषय आगममें पाया जाता है।

सूत्रमें असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें मनुषिणियोंको पर्याप्त कहा गया है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए धवलाकारने शंका उठाई है और उसका निरसन उनने इस सूत्रके द्वारा किया है। इसी सूत्रमें आगत ' संजद ' शब्दके स्पष्टी करणार्थ ' **अस्मादे-वार्षाद्द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः सिद्ध्येत्** ' यह शंका उठाई गई है। इससे संजदशब्द सूत्रमें है यह साबित हो जाता है। यदि सूत्रमें संजदासंजद तकके पांच ही गुणस्थान होते तो यह शंका उठ ही नहीं सकती थी। सूत्रमें संजदपद है इसी परसे यह शंका उठी है और संजदशब्दको लेकर ही उस शंकाका निरसन किया गया है। संजदशब्दके न होते हुए और संयतासंयत तकके पांच गुणस्थानों तकके होते हुए ही यह शंका उठ सकती है तो तिर्यं-चोंमें भी संयतासंयत तकके पांच ही गुणस्थान हैं वहां क्यों नहीं उठाई गई, इसका कारण यही है कि तिर्यंचोंमें पांच गुणस्थानोंकी

विधि ही उनके मुक्ति होनेका निषेध कर देती है जैसे कि देव और नारकियोंके चतुर्थ गुणस्थान तककी विधि संयतासंयत पनेका और संयतपनेका निषेध कर देती है। इसी तरह नं. ९२–९३ वे सूत्रों में पांच ही गुणस्थान मनुष्यिणियोंके लिए यदि कहे गये हैं तो पांच गुणस्थानोंके होते हुए तो यह शंका उठ नहीं सकती। क्या पांच गुणस्थानोंके होते हुए किसीके भी मुक्ति होना सिद्ध होता है। इसका उत्तर यही होगा कि पांच गुणस्थानोंके होते हुए मुक्ति जाना सिद्ध नहीं होता है। अतः इस शंकासे ही मालूम होता है कि सूत्रमें संजदशब्द है उसी परसे यह शंका उठी है

उक्त शंकाका उत्तर आचार्यने इस प्रकार दिया है कि द्रव्यस्त्रियां सवस्त्र हैं इसलिए अप्रत्याख्यानगुण अर्थात् संयतासंयत गुणमें स्थित हैं इस कारण उनके संयम नहीं होता है। यथा —

सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः।

वस्त्र सहित होनेसे उनके द्रव्यसंयम–नग्नता नहीं होती है तो न सही, भावसंयम तो उनके वस्त्र पहने हुए भी हो जाता होगा। उत्तर देते हैं कि भावसंयम भी द्रव्यस्त्रियोके नहीं होता है? क्योंकि भावसंयम उनके हो तो भाव असंयमका अविनाभावी वस्त्रादिकका ग्रहण नहीं बन सकता। यथा—

भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेत्? न तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः।

इस परसे पुनः शंका होती है कि द्रव्य संयम भी नहीं होत है और भावसंयम भी नही होता है तो उन द्रव्यस्त्रियोंमें चौदह गुणस्थान कैसे हो जाते हैं? आचार्य उत्तर देते हैं कि नहीं अर्थात् द्रव्यस्त्रियोंके चौदह गुणस्थान नही होते हैं किन्तु भावस्त्री-विशिष्ट मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंके होने में विरोध नहीं है। यथा—

कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानि इति चेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्।

इस शंकाके समाधानके द्वारा आचार्य इसी भावस्त्री अर्थात् मनुषिणीके चौदह गुणस्थानोंका होना स्वीकार करते हैं। प्रमत्तसे लेकर अयोगिकेवली तकके नौगुणस्थान 'संजद' पदसे बाहर तो हैं ही नहीं। तात्पर्य यह कि प्रमत्तसंयतसे लेकर अयोगिकेवली तकके नौगुणस्थान ही संयतस्थान हैं। ऐसी हालतमें इस नं. ९३ सूत्रमें भावस्त्रीकी अपेक्षा 'संजद' शब्दके होनेमें कैसी भी बाधा नही है।

आचार्य ने शंकाकारकी शंकाके उत्तरमें जब चतुर्दश गुण-स्थानोंका भावस्त्रीविशिष्ट मनुष्यमें होना स्वीकार कर लिया तब शंकाकार पुनः बोल उठा कि भाववेद बादरकषायनामके नौवें गुणस्थानसे ऊपर नहीं है इसलिए भाववेदमें चौदहगुणस्थान संभव नहीं है? आचार्य उत्तर देते हैं कि यहां पर वेदकी प्रधानता नहीं है किन्तु यहां पर गतिप्रधान है वह वेदसे पहले नष्ट नहीं होती है। यथा—

भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानानां संभव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात् गतिस्तु प्रधाना, न सा आराद्विनश्यति

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकरणमें जिसके विषयमें कथन होता है उस प्रकरणमें उसीकी प्रधानता होती है। यहा गतिका कथन है इस लिए गतिप्रधान है। वेद उस जीवमें होता है और नहीं भी होता है। क्योकि नौवें तक वेद होता है नौवेंसे ऊपर नही होता है परन्तु मनुष्य गति पहले गुणस्थानसे लेकर चौदह तक बराबर बनी रहती है।

शकाकार फिर शंका करता है कि वेदविशेषणको धारण करने वाली गतिमें वे चौदह गुणस्थान नही सभवते हैं? इसका उत्तर भी आचार्य इसप्रकार देते हैं कि नही, विशेषणके नष्ट हो जाने पर भी उस वेदव्यपदेशको धारण करनेवाली मनुष्यगतिमें उपचारसे वेदकी सत्ता मान लेनेमें कोई विरोध नही है। यथा—

वेदविशेषणायां गतौ न तानि संभवंतीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्।

यद्यपि निश्चयसे नौवें गुणस्थानके ऊपर वेद नहीं है परन्तु उपचारसे ऊपर भी वेद माना जाता है, वह इसतरह कि यह वही गति है जो वेदविशेषणसे युक्त थी। जिस तरहसे कि कषायोदयसे अनुरंजित योगप्रवृत्ति उपचारसे लेश्या मानी जाती है।

जब कि वेद उपचारसे ऊपरके गुणस्थानोंमें भी हैं तभी तो यह कहा जाता है कि तीनों ही वेदोंसे मुक्ति होती है। अस्तु, इससे यह स्पष्ट है कि मनुषिणीके चौदह गुणस्थान होते हैं। यह बात इस शंका समाधानसे सुनिश्चित है। ऐसी हालतमें इस सूत्रमें संजदशब्दके मानलेनेमें कोई विरोध नहीं है। अत भावस्त्रीकी अपेक्षा सूत्रमें संजदशब्दका होना निहायत जरूरी है।

उपसंहार।

निम्न लिखित वजूहातोंसे मनुषिणीके संयमस्थानोंकी पुष्टि होती है।

मनुष्यिणीसम्बन्धी शंका समाधानसे मनुषिणीके चौदह गुणस्थान सुनिश्चित हैं। उनमें छट्ठे से चौदहवें तक के गुणस्थान संयतस्थान हैं।

धवलाके सत्प्ररूपणाके द्वितीयखंडमें मनुषिणीके चौदह गुणस्थान कहे गये हैं। परिहारविशुद्धि संयमको छोड़ सभी संयम इसके कहे गये हैं। मनःपर्ययको छोड़कर सब ज्ञानोंका मनुषिणीमें होना कहा गया है जिनमें केवल ज्ञान भी है। केवल ज्ञानका अविनाभावी केवल दर्शन भी इसके कहा है। अपगतवेद, और अकषायभाव भी इसके कहे गये हैं, जो कि नौवेंसे ऊपरके संयमस्थानोंमें होते हैं इस कथनसे स्पष्ट है कि मनुषिणीके संयमस्थान होते हैं।

मनुषिणीके सूत्रकारने स्वयं चौदह गुणस्थानोंका सत्त्व उनमें उसके संख्या, क्षेत्र, स्पर्श, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व कहे हैं। उनसे स्पष्ट है कि मनुषिणीके संयमस्थान होते हैं।

पहले और दूसरे गुणस्थानोमें पर्याप्तता और अपर्याप्तता और शेष सब गुणस्थानोमें पर्याप्तता भी इसी खंडमें इसी चतुर्दश गुणस्थानवर्तिनी मनुषिणीके कही गई है।

अकलंकदेव मनुषिणीके चौदह गुणस्थान कहते हैं। उनके उस कथनसे मनुषिणी पहले दूसरेमें पर्याप्त अपर्याप्त और शेष सब गुणस्थानोमें पर्याप्त ही कही गई है। अकलंकदेवने मनुषिणीके साथ पर्याप्त–अपर्याप्त विशेषण लगाये हैं।

पूज्यपादके कथनसे भी भावमनुषिणी पर्याप्त और अपर्याप्त होती है यह सिद्ध है।

धवलाकारके मनुषिणी सम्बन्धी इन अनुयोगद्वारोके विवेचनसे और उदाहरणोसे भी स्पष्ट है कि मनुषिणीके संयमस्थान होते हैं और वह पर्याप्त–अपर्याप्त भी होती है। अतएव जन्म ग्रहण कर जन्मसे पुरुषाकार शरीर बनाती है।

षष्ठादिसंयतस्थानोका अन्तर प्रारंभ करनेवाली और तीन अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष कम सातपूर्वकोटियोको समाप्तकर अन्तर पूर्ण करनेवाली मनुषिणीके द्रव्यवेद पुरुषवेद ही है। उस वक्त वह मिथ्यात्व सासादनमें जन्म ग्रहण कर पुरुषवेदकी रचना करती है। जन्मसे अन्तर्मुहूर्त तक अपर्याप्त रहती है पश्चात् आयुप्रमाण काल तक उस द्रव्यवेदसे पर्याप्त ही रहती है।

यही बात स्त्रीवेदके विषयमें है उसके षष्ठादिसंयत स्थानोंका अन्तर प्रारंभ करनेका काल और समाप्त करनेका काल तीन अन्त-मुहूर्त और आठ वर्ष कम ९०० नौसौ पल्योपमका है। और सब विषय मनुषिणीके समान हैं। इससे भी मनुषिणीके संयमस्थान और पर्याप्तता अपर्याप्तता सिद्ध है।

भावमनुषिणी भी पर्याप्त-अपर्याप्त शब्दोसे समन्वित देखी जाती है, इसलिए नं. ९३ वें सूत्रान्तर्गत मनुषिणीका वाच्यार्थ द्रव्यस्त्री निश्चित नही होता हैं। क्योंकि विपक्षमें भाव-मनुषिणी भी अड़ी खड़ी है।

इत्यादि वजूहातोसे मनुषिणीके संयमस्थान सिद्ध हैं और पर्याप्तता-अपर्याप्तता भी सिद्ध है। यही विषय सूत्र नं. ९३ वें में कहा गया है अतः भावमनुषिणीकी अपेक्षा नं. ९३ वें में संजदपद का होना शास्त्राधारसे असिद्ध नही होता है। मनुषिणी और स्त्रीवेदके साथ संयतशब्द भी जुड़े हुए अन्य मूलसूत्रों में देखे जाते हैं। यथा—

मणुसा असंजदसम्माइट्ठि- संजदासंजद- संजदट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी १६४

अर्थात् मनुष्य असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत-स्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं।

एवं मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु । १६५ ॥ सत्प्ररूपणा.

इसीप्रकार मनुष्यपर्याप्त और मनुषिणियोंमें कहना चाहिए। अर्थात् मनुष्यपर्याप्त और मनुषिणियां भी मनुष्यसामान्यकी तरह असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयतस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और औपशमिकसम्यग्दृष्टि होती हैं।

इन सूत्रोंमें आचार्यप्रवर पुष्पदन्तमहाराजने स्वयं मनुषिणीके संयतस्थानका प्रयोग किया है और ऐसा करके उसके संयतस्थानमें तीनों सम्यक्त्वोंका होना कहा है। ये तीनों सम्यक्त्व मनुषिणीके पर्याप्त अवस्थामें होते हैं। क्योंकि सूत्र ९३ वें में मनुषिणी इन तीनों स्थानोंमें पर्याप्त ही होती है ऐसा कहा गया है। इसका कारण भी यह है कि गत्यन्तरका कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव मनुषिणियोंमें उत्पन्न नहीं होता है।

किंच— णवरि विसेसो मणुसिणीसु असंजदसंजदासंजदपमत्तापमत्तसंजदट्ठाणे सव्वत्थोवा खइयसम्मादिट्ठी । ७५ । उवसमसम्मादिट्ठी संखेज्जगुणा । ७६ । वेदगसम्मादिट्ठी संखेज्जगुणा । ७७ । एवं तिसु अद्धासु । ७८ । सव्वत्थोवा उवसमा । ७९ । खवा संखेज्जगुणा । ७९ ।

—अल्पबहुत्वानुयोगद्वार

इन सूत्रोंमें भी मनुषिणीके लिए संयतस्थानका प्रयोग देखा जाता है। अतः जरा भी सन्देह अवशिष्ट नहीं रहता है कि मनुषिणीके संयतस्थान नहीं होते हैं। एवं षट्खंडागमके अगणित सूत्रोंसे और धवलाके अगणित वाक्यों और उदाहरणों पर से मनुषिणीके संयतस्थान प्रसिद्ध हैं। इतना ही नहीं कसायपाहुड के

चूर्णिसूत्रोंमें और उच्चारणासूत्रोंमें भी ' इत्थिवेदसंजदस्स ' इत्यादि अनेक पद पाये जाते हैं । स्त्रीवेदके उदयवाले ' संजद ' मनुषिणीके सिवा और कोई होते नहीं हैं । इन सब प्रमाणोंके होते हुए भी संजदशब्दको ९३ वें सूत्रमें से निकलवाने का दुराग्रह बना ही रहे तो कलिकालके महात्म्यको छोड़कर और कहा ही क्या जाय।

आदिके सौ सूत्र द्रव्यवेदके और शरीरके प्रतिपादक नहीं हैं । वे आदिकी चारमार्गणाओंके ही प्रधानतया प्रतिपादक हैं । ये चारों मार्गणाएं पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोंके शरीरों और द्रव्यवेदोंके अभावमें भी पाई जाती हैं ऐसी हालतमें आदिकी चार मार्गणाएं शरीर और द्रव्यवेदके प्रतिपादन करनेवाली हैं यह शास्त्रविरुद्ध कथन है ।

सूत्र ९३ वें में भी संजदपद है अतएव द्रव्यस्त्रीके मोक्षकी आशंका उत्पन्न हुई है । पांच गुणस्थानोंके होते हुए यह शंका उठ ही नहीं सकती है ।

अन्तिम निष्कर्ष यह है कि चौदह मार्गणाएं भावरूप हैं उन्हींमें सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोग कहे गये हैं । यह ऊपर सप्रमाण कहा जा चुका है । इति शम् ।

रूसउ तूसउ लोओ सच्चं अक्खंतयस्स साहुस्स ।
किं जूयभए साडी विवज्जियव्वा णरिंदेण ।। १ ।।

— देवसेनपादाः ।

परिशिष्ट ।

पूर्वोक्त विषयके लिखे आनेके बाद श्रीयुत मोतीचंदजी गौतमचंदजी कोठारी फल्टनका एक ट्रैक्ट भी हमारे देखनेमें आया। इस ट्रैक्टका सब उत्तर प्रायः हमारे पूर्वोक्त कथनमें आजाता है फिर भी थोडासा एक दो बातोंका स्पष्टीकरण किंचिन्मात्र यहां किया जाता है।

कोठारीमहोदयने भी विना प्रमाणके कल्पित कल्पनाओंके बल पर यह एक हवाई पुल बांधा है और नं. ९३ के सूत्रको द्रव्यस्त्रीका प्रतिपादक बतलाते हुए संजदशब्दके न होनेका स्वप्न देखा है।

आपका कहना है कि 'यह प्रकरण योगमार्गणाका होनेसे काययोगका ही ग्रहण करना पडता है'। यह बात ठीक है कि पर्याप्तियोंका कथन योगप्रकरणके खतम होनेके अनन्तर आया है। इसका कारण यह है कि कितने ही योग पर्याप्तअवस्थामें होते हैं और कितने ही अपर्याप्त अवस्थामें होते हैं इस परसे यह शंका हुई कि पर्याप्तियां अपर्याप्तियां कितनी हैं और किन किन जीवोंके कितनी कितनी पर्याप्तियां होती हैं इस शंकाको दूर करते हुए सब पर्याप्तियोंकी संख्याके, पर्याप्तियोंके स्वामियोंको दिखलाते हुए उनमें या उनका चारों गतियोंके गुणस्थानोंमें अस्तित्व कह दिया गया है। देखो सूत्र ७९ की अवतरणिका, इस परसे ज्ञात होता है कि पर्याप्तियोंका सम्बन्ध केवल योगमार्गणासे ही नहीं है। योगमार्गणासे ही सम्बन्ध है तो अन्यमार्गणाओंमें पर्याप्तता अपर्याप्तता कैसे जानी जायगी? योगमार्गणा स्वयं पर्याप्त अपर्याप्त नहीं

है किन्तु योगमार्गणा आधेय है और पर्याप्तियां अपर्याप्तियां आधार हैं, यही बात शेष सब मार्गणाओंमें है। अत योगप्रकरणमें आज्ञा-ने मात्रसे अकेले कायबोगके साथ ही पर्याप्तियोंका सम्बन्ध है यह कहना उचित नही है। सभी जीवोंमें स्वसभव योग होते हैं, पर्याप्तिया अपर्याप्तियां भी सभी जीवोमें होती हैं और शेष मूल मार्गणाएं भी यथासभव सब जीवोमें होती हैं। ऐसी हालतमें पर्याप्तियों–अपर्याप्तियोंकी रजिष्ट्री केवल योगमार्गणाके साथ ही नहीं है। स्वामी वीरसेन, अकलकदेव, पूज्यपादआदिने भी पर्याप्तियों–अपर्याप्तियोका कथन किया है। वहा तो योगप्रकरण है ही नही फिर उनके कथनमें इनका सम्बन्ध योगो के ही साथ कैसे जोडा जायगा। योगोके अभावमें भी अयोगकेवलीके पर्याप्तता कही गई है। यदि पर्याप्तियोका सम्बन्ध कायबोगके साथ ही है तो अयोगकेवलीके पर्याप्तताका कहा जाना कैसे भी युक्त नहीं हो सकेगा। इसलिए कायबोगके साथ भी पर्याप्तियोका उतना ही सम्बन्ध है जितना कि शेष मार्गणाओंके साथ है। अत इस परसे मनुषिणीके द्रव्यस्त्रीवेद सिद्ध नही होता है।

सूत्र न. ९२ वेंमें तेरहवा गुणस्थान अपर्याप्त अवस्थामें नहीं कहा गया इससे यह प्रकरण भावस्त्रीका न होकर द्रव्यस्त्रीका है यह कहना भी व्यर्थ है। क्योकि न. ९० मे मनुष्योंके भी तेरहवा गुणस्थान अपर्याप्त अवस्थामें नही कहा गया है। यदि मनुष्यके तेरहवें गुणस्थानमें अपर्याप्तता 'ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताण' इस सूत्रसे और णियमा शब्दके अनित्यपनेसे सिद्ध है तो इसी परसे मनुषिणीके भी तेरहवा गुणस्थान सिद्ध होता है। क्योकि केवलिसमुद्धात मनुषिणिया भी करती हैं।

९२-९३ वें सूत्र द्रव्यमनुषिणीके पांच गुणस्थानोंमें ही पर्याप्तता-अपर्याप्तताका कथन करते हैं तो भावमनुषिणी भी पर्याप्त अपर्याप्त होती हैं उसके चौदह गुणस्थानोंमें पर्याप्तता-अपर्याप्तताका प्रतिपादक सूत्र बताना होगा। जब कि भावमनुषिणीके चौदह गुणस्थान कहे गये हैं उनमें उसकी संख्या, क्षेत्र, स्पर्श, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व कहे गये हैं तब उसके उन गुणस्थानोंमें पर्याप्तता-अपर्याप्तताका विधायक और कोई सूत्र बताना होगा। ९२-९३ वें सूत्र द्रव्यस्त्रीके प्रतिपादक हैं तो सूत्र ८९-९०-९१ वें द्रव्यपुरुषके प्रतिपादक होंगे ऐसी हालतमें द्रव्यनपुंसकमनुष्योंके पांचगुणस्थानोंके प्रतिपादक सूत्र षट्खंडागममें कौनसे हैं यह भी बताना होगा। मणुसिणीसजोगिजिणाणं भण्णमाणे अत्थि एगं गुणट्ठाणं, दोजीवसमासा, छपज्जत्तीओ छअपज्जत्तीओ इत्यादि वाक्योंका क्या तात्पर्य है?

यदि णियमाशब्द कारक न होकर ज्ञापक सूत्र है और ज्ञापक होनेसे अनित्य होकर तेरहवें गुणस्थानमें मनुष्यके पर्याप्तता और अपर्याप्तताका प्रतिपादन करता है तो नारकियोंके, देवोंके, और तिर्यंचोंके पर्याप्तताके प्रतिपादक सूत्रोंमें आगत णियमाशब्द और नं. ९३ वें में आगत णियमाशब्द ज्ञापक और अनित्य क्यों नहीं? क्या ऐसी कोई खास राजाज्ञा है जिससे ९० सूत्रमें आया हुआ णियमाशब्द तो ज्ञापक एवं अनित्य है। और इसी प्रकरणके अन्य सूत्रोंमें आगत णियमाशब्द ज्ञापक और अनित्य न हो। कहें कि उन सूत्रोंमें आगत णियमाशब्द अनित्य होता हुआ क्या ज्ञापन करता है। इसका सामान्यतः उत्तर यही है कि जिन जिनके जिन जन गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तता कही गई है उनके उन गुण-

स्थानोंमें उत्तरशरीरकी उत्थापनाके समय उत्तरशरीरोंकी रचना करनेवाली पर्याप्तियोंकी जब तक अपूर्णता है तब तक उनके उन गुणस्थानोंमें अपर्याप्तता भी है । एवं च द्रव्य प्रथमनरकके सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थानमें द्वितीयादिनरकोंके सम्यग्मिथ्यात्व और असंयतगुणस्थानमें, देवोंमें भवनवास्यादिकोंके इन्हीं गुणस्थानोंमें, वैमानिकोंके सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थानमें तिर्यंचोंके तृतीय और पंचम-गुणस्थानमें अपर्याप्तता सिद्ध है । इसी तरह मनुषिणीके भी यह णियमाशब्द पर्याप्तताके प्रतिपादक गुणस्थानोंमें उत्तरशरीरके उत्थापनके समय और केवलिसमुद्घातके समय अपर्याप्तता प्रति-पादन करता है । ऐसी अवस्थामें मनुषिणीके भी तेरहवें गुणस्थानमें समुद्घातकी अपेक्षा अपर्याप्तता सिद्ध हो जाती है ।

जब कि सूत्रकार मनुषिणीका क्षेत्र और स्पर्श तेरहवें गुण-स्थानमें लोकका असंख्यातैकभाग, असंख्यातबहुत भाग और संपूर्ण लोक कह रहे हैं । इस समय उस मनुषिणीके औदारिककाय भी है, औदारिकमिश्रकाययोग भी है और कार्मणकाययोग भी है । इससे तेरहवें गुणस्थानमें मनुषिणी पर्याप्त भी मालूम देती है और अपर्याप्त भी । अतः यह बताना होगा कि इस तेरहवें गुणस्था-नवाली इस मनुषिणीके ये योग और पर्याप्तता—अपर्याप्तता तथा संजदपना वे सब कहां से आगये । जब कि तेरानवां सूत्र द्रव्यस्त्री का ही प्रतिपादक है और संजदशब्द उसमें नहीं है ।

इस समय हमारे पास समयका अभाव है, अतः विशेष लिख-नेके लिए असमर्थ हैं । बुद्धिमानोंके लिए इशारा ही काफी है ।